डॉ. सुभाष कश्यप

स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास

स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास

(1857–1947)

डॉ॰ सुभाष काश्यप

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

© लेखक
प्रथम संस्करण 1996, प्रतियां 1100
पुनर्मुद्रण 1997, प्रतियां 3300

पुनर्मुद्रण 2003 (नवंबर), प्रतियां 3300

संयोजक मंडल

प्रो. डॉ. श्रीप्रकाश तिवारी
अध्यक्ष, सलाहकार समिति

डॉ. (श्रीमती) सुजाता राय
संयोजक

डॉ. श्याम कश्यप
सहसंयोजक
डॉ. सुनील कुमार श्रीवास्तव
सहसंयोजक

यह पुस्तक मानव संसाधन विकास मंत्रालय,भारत सरकार के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित की गई है।

मूल्य : 40/- रूपए

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, बैरक नं 2 एवं 4,केवेलरी लाइन, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007 द्वारा प्रकाशित तथा क्लासिक फोटोटाइपसैटर, 6/49ए, विजय नगर डबल स्टोरी, दिल्ली द्वारा लेजर टाइप सैटिंग और अभिनव प्रेस, डब्ल्यू जेड-48, शकूर पुर गांव, दिल्ली-34 से मुद्रित।

आमुख

भारत के स्वाधीनता आंदोलन का इतिहास बड़ा ही मार्मिक, गौरवमय और प्रेरणादायी है। वस्तुतः यह अनगिनत कष्टों और कुर्बानियों का इतिहास है।

15 अगस्त, 1947 को भारत में स्वाधीनता का अरुणोदय हुआ। देश विदेशी शासन से मुक्त हुआ। हमारे सपने साकार हुए। हमें अपनी नियति स्वयं बनाने का, अपने देश को अपनी इच्छाओं-आकांक्षाओं के अनुसार ढालने-सँवारने का अवसर मिला। पर, यह मंगल-मुहूर्त यों ही नहीं आ गया। इसकी कीमत स्वाधीनता संग्राम के सैनिकों को अपने लहू और त्याग से चुकानी पड़ी।

गत 50 वर्षों में स्वाधीन भारत में जन्मी और पली पीढ़ियों के लिए संभवतः यह अनुमान लगाना कठिन होगा कि गुलाम देश में, दासता के बंधनों में, जीने का क्या अर्थ होता है और उनके जिन पूर्वजों ने इस स्थिति के विरुद्ध संघर्ष किया उन पर क्या बीती। आज कितने युवक-युवतियों को, कितने बालक-बालिकाओं को, इसका आभास है कि एक समय था जब खादी के कपड़े पहनना और सफेद गाँधी टोपी लगाना विद्रोह का बिगुल समझा जाता था, जब टोपी न उतारने पर पुलिस की लाठियाँ बरस पड़ती थीं, जब हर बड़े शहर में ऐसे क्लब थे, जिनके बाहर लिखा होता था- 'भारतीयों और कुत्तों के लिए प्रवेश मना है।' आज संविधान द्वारा प्रदत्त स्वतंत्रता के अधिकारों का उपयोग करने वाली पीढ़ियों को क्या याद होगा कि किस प्रकार कौमी नारा – 'वंदेमातरम्' कह देने मात्र से लोग जेलों में बंद कर दिए जाते थे और किस प्रकार 'इनकलाब-जिंदाबाद' का नारा लगाते हुए तिरंगा राष्ट्रीय ध्वज उठाए सत्याग्रही आगे बढ़ते थे, लाठियाँ पड़ती थीं, गोलियाँ बरसती थीं, किंतु ध्वज नहीं झुकता था। एक ध्वजधारी गिरता था, पर गिरने से पहले ध्वज दूसरे हाथों में पहुँच जाता था और फिर् तीसरे और चौथे....... और फिर कितने ही साथी अपने सर्वस्व की आहुति देकर अनंत की गोद में विलीन हो जाते थे। जो बचे रहते थे वे चलते जाते थे मंजिल की ओर। जैसा नेहरूजी कहा करते थे, हमने आजादी की मंजिलें कुछ इस तरह तय कीं, हम गिरे पर हमने हिम्मत नहीं छोड़ी और हर बार हम उठे और फिर चल पड़े। बहादुर क्रांतिकारियों के साथ जेलों में जो अमानुषिक अत्याचार किए गए, उनके स्मरण मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। वे फाँसी के तख्तों पर झूल गए, शहीद हो गए ताकि देश जिंदा रह सके और आज हम स्वतंत्र हवा में सांस ले सकें। उनका लहू रंग लाया और देश स्वाधीन हुआ।

आज जब हम स्वाधीन भारत में सांस ले रहे हैं तो यह आवश्यक है कि हम उन शहीदों, सत्याग्रहियों और सैनिकों को न भूलें, जिन्होंने यह दिन संभव बनाया। उस पथ को न भूलें जिस पर चलकर हम अपनी मंजिल पर पहुँचे। उन दिनों को न भूलें, उस यात्रा को न भूलें। हम कभी न भूलें कि स्वाधीनता ऐसी विरासत है जिसे हमारे पूर्वजों ने कितनी ही

यातनाएँ सहकर, अपने श्रम, त्याग और रक्त के बल पर खड़ा किया है। साथ ही, हम यह भी याद रखें कि यात्रा अभी खत्म नहीं हुई। आज भी जारी हैं।

स्वाधीनता और सत्ता अपने साथ भारी उत्तरदायित्व लाती हैं। राजनीतिक स्वाधीनता-प्राप्ति मात्र से सारी कठिनाइयों का अंत नहीं हो जाता। सारी समस्याएँ सुलझ नहीं जातीं। संघर्ष की आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती। सपने चुक नहीं जाते। वस्तुतः जितनी अधिक प्रगति होती है उतना ही भारी आशाओं का विस्फोट होता है, उतना ही अधिक आकांक्षाओं का ज्वार-भाटा आता है। और यह सब, एक जीवित, आगे बढ़ते हुए और गतिशील राष्ट्र के प्रतीक हैं। विकास की गति के प्रति व्यापक असंतोष भी इस बात का चिन्ह है कि लोग सजग हैं, हताश नहीं; आशावान् हैं, निराश होकर बैठ नहीं गए; भविष्य से माँग करते हैं और उसे और-और अधिक अच्छा बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

राष्ट्र-निर्माण और प्रगति के पथ पर विश्राम का समय कभी नहीं आता। स्वाधीनता स्वयं सतत् सतर्कता माँगती है। अतः स्वाधीनता आंदोलन का इतिहास कभी समाप्त नहीं होता, उसका स्वरूप बदलता रहता है। प्रति-दिन, प्रति-पल हमें – देश की नई-नई पीढ़ियों को – देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए तत्पर रहना है। हमारी स्वतंत्रता की प्रहरी केवल सेनाएँ और सरकार नहीं हो सकतीं। प्रत्येक भारतवासी को यह अहसास होना जरूरी है कि यह स्वतंत्रता उसकी है, देश उसका है। अगर देश जिंदा रहता है तो कोई नहीं मरता और देश मर जाए तो कौन जीता है? हममें से प्रत्येक नागरिक को इस देश की, इसकी स्वाधीनता की, अपनी स्वाधीनता की रक्षा करने के लिए आज भी त्याग करने होंगे, कठिनाइयाँ उठानी होंगी और जरूरत पड़ने पर जान की बाजी लगाने के लिए तैयार रहना होगा।

देश के निर्माण की लड़ाई, सामाजिक-आर्थिक विषमताओं और असमानताओं, गरीबी, गंदगी और बेकारी, राजनीति के अपराधीकरण, जातिवाद, सांप्रदायिकता और भ्रष्टाचार, के विरुद्ध लड़ाई भी स्वाधीनता की लड़ाई से कम महत्वपूर्ण नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि फिर से सारे देश में एक ऐसा वातावरण पैदा हो जिसमें प्रत्येक भारतवासी को लगे कि वह किसी आदर्श के लिए संघर्ष कर रहा है, देश-निर्माण के महान् कार्य में जुटा हुआ है और उसे अपने प्रयत्नों से देश को आगे बढ़ाना है। उसे आज यह नहीं सोचना है कि देश उसके लिए क्या करे, अपितु यह सोचना है कि वह देश के लिए क्या कर सकता है। बहुत-कुछ करना बाकी है। इस जय-यात्रा में अभी मीलों चलना शेष है। हमें चलते रहना है।

नेहरू जी के शब्दों में :

> हमारे युग के महानतम पुरुष की आकांक्षा यही रही कि हरेक आँख के हरेक आँसू को पोंछ डालें। ऐसा कर सकना हमारी सामर्थ्य से बाहर की बात हो सकती है, किंतु जब तक आँसू हैं, और दुख हैं, तब तक हमारा काम पूरा नहीं होगा।

– तो फिर हम सब उठें, जागें, मंजिल को पहचानें और चल पड़ें। इस लड़ाई में हार कभी नहीं होती। –'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत'!

और, ऐसा वातावरण बनाने के लिए, ऐसी भावना जगाने के लिए, ऐसी प्रेरणा फूँकने

के लिए, यह नितांत आवश्यक है कि प्रत्येक भारतवासी अपने देश के स्वाधीनता आंदोलन के इतिहास से परिचित हो, उसे बार-बार पढ़ना और समझना अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य समझे। यह पुस्तक यदि यही थोड़ा-सा याद दिलाने में सफल हो सके तो बहुत है।

भारतीय स्वाधीनता की स्वर्ण जयंती के ठीक पहले प्रकाशित हो रही इस पुस्तक के बारे में मैं यहाँ केवल इतना कहना चाहूँगा कि मैंने मूल रूप से हिंदी में लिखा है; किसी एक या एक से अधिक अन्य लेखकों की अँग्रेजी पुस्तकों का अनुवाद-मात्र नहीं किया। यह मेरे कई दशकों के अध्ययन और मनन का परिणाम है। जहाँ तक तथ्यों, घटनाओं के विवरण और उद्धरणों का संबंध है, प्रस्तुत कृति की सामग्री अत्यंत प्रामाणिक, विश्वस्त और अधिकृत मूल स्रोतों पर आधारित है।

मेरा विश्वास है कि हमारी शिक्षा संस्थाओं में पाठ्यक्रमों को और पाठ्य पुस्तकों को युग की भावनाओं से और नई पीढ़ी की सामाजिक चेतनाओं और आवश्यकताओं से निकट का संबंध स्थापित करना होगा। यदि प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में प्रगति का पग सिद्ध हुई तो मेरा प्रयास सार्थक होगा।

यह देश का दुर्भाग्य है कि स्वाधीनता के लगभग 50 वर्ष बाद भी पाठ्यक्रमों से संबंधित पुस्तकें लिखने का काम और विशेषकर राष्ट्र भाषा के माध्यम से लिखने का काम हेय समझा जाता है, उसे कुछ गिरी हुई नजर से देखा जाता है। संभवत: इसीलिए जो अपने विषय पर साधिकार लिख सकते हैं, वे विद्यालयों और महाविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए पाठ्य पुस्तकें लिखने से कतराते हैं और फिर जो पुस्तकें लिखी जाती हैं उनके स्तर की, उनकी प्रामाणिकता की व्यापक आलोचना होती है। मैंने पूरी कोशिश की है कि भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का यह इतिहास प्रामाणिक और संयत होने के साथ-साथ ऐसी शैली में लिखा जाए जो रोचक हो, प्रभावमयी हो। मेरी कामना है कि यह इतिहास देश के बालक-बालिकाओं और युवक-युवतियों को अच्छा लगे, इसे पढ़ने में उनका मन लगे, उन्हें कुछ आनंद मिले; वह इसमें रम जाएँ और अपने देश और उसकी स्वाधीनता पर गर्व करें, उन्हें एक नई प्रेरणा मिले, उनको नए मूल्यों और आदर्शों के प्रति आस्था का पाथेय मिले। उनके मन-मानस में एक नया देश-प्रेम जन्मे। देश की एकता को, एक सुनियोजित, सुगठित तथा समृद्ध भारतीय राष्ट्र के निर्माण के प्रयासों को बल मिले। मेरा विश्वास है कि जो भी इस इतिहास को पढ़ेंगे, उनके मानस-पटल पर स्वाधीनता आंदोलन की गाथा कुछ न कुछ अवश्य साकार होगी, अपनी छाप छोड़ जाएगी, और वे अपने देश के गौरवमय अतीत तथा अपने पूर्वजों के बलिदान, तपस्या और कठिन संघर्ष से प्रभावित हुए बिना न रह सकेंगे।

इस पुस्तक में अनजाने में रह गई कमियों के लिए मैं क्षमा चाहूँगा और सुधार के सभी सुझावों का स्वागत करूँगा।

सुभाष काश्यप

डी-298 सर्वोदय, नई दिल्ली-110017

विशेष रूप से हिंदी माध्यम से पढ़ने और पढ़ाने वाले विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के अध्यापकों और छात्रों के बीच हमारे प्रकाशन दिनों-दिन अत्यधिक लोकप्रिय हो रहे हैं।

निदेशालय विगत 18 वर्षों से हिंदी में विभिन्न विषयों से संबंधित विश्वविद्यालय स्तरीय साहित्य तैयार करने में लगा हुआ है। इसके पीछे मुख्य दृष्टि यह रही है कि हिंदी माध्यम से विभिर्न्न विषयों का अध्ययन करने वाले छात्रों और शिक्षकों की जरूरतों को पूरा किया जाए। निदेशालय इस उद्देश्य से उत्कृष्ट पुस्तकें प्रकाशित करने के साथ ही विख्यात सुप्रतिष्ठित विद्वानों के मानक ग्रंथों का भी प्रकाशन करता है। डॉ॰ सुभाष काश्यप की प्रस्तुत कृति इसी योजना के अंतर्गत प्रकाशित की जा रही है।

इस कृति के प्रकाशन से हम एक अन्य कारण से भी विशेष संतोष और हर्ष अनुभव कर रहे हैं। अगले माह से ही भारतीय स्वतंत्रता के स्वर्ण-जयंती वर्ष का शुभारंभ हो रहा है। इस दृष्टि से भी इस पुस्तक का प्रकाशन हमारी स्वतंत्रता के स्वर्ण-जयंती वर्ष के उपलक्ष्य में विश्वविद्यालय और निदेशालय की ओर से अपना योगदान और हिंदी-भाषी पाठकों को एक हार्दिक उपहार है।

अंत में, यह पुस्तक इतने कम समय में कदापि प्रकाशित न हो पाती अगर इसके प्रकाशन की समूची प्रक्रिया में हमारे निदेशालय के बिक्री-प्रतिनिधि श्री जगबीर सिंह तलवार ने कठिन श्रम न किया होता। उनके इस सत्प्राह के लिए मैं उन्हें धन्यवाद देता हूं।

(श्याम कश्यप)
कार्य॰ निदेशक
हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

1 दिसंबर, 1996

अनुक्रम

		पृष्ठ संख्या
	आमुख	
1.	**प्रवेश और पृष्ठभूमि** यूरोपियों का आगमन और कंपनी शासन 1600–1857	1
2.	**1857 का स्वाधीनता संग्राम** कंपनी शासन का अंत 1857–1858	7
3.	**राष्ट्रीयता और क्रांति का स्वर** कांग्रेस का जन्म 1875–1914	18
4.	**प्रथम महायुद्ध और होमरूल आंदोलन** 1914–1919	29
5.	**गाँधी-युग का प्रारंभ** जलियाँवाला, ख़िलाफ़त और असहयोग आंदोलन 1919–1922	34
6.	**पूर्ण स्वराज्य का संकल्प** साइमन कमीशन और लाहौर कांग्रेस 1922–1930	46
7.	**सविनय अवज्ञा आंदोलन** गोलमेज़ सम्मेलनों से प्रांतीय स्वायत्तता तक 1930–1939	57
8.	**भारत-छोड़ो आंदोलन** द्वितीय महायुद्ध, क्रिप्स और वेवेल योजनाएँ 1939–1945	73
9.	**स्वाधीनता और विभाजन** मंत्रिमिशन और माँउटबेटेन योजनाएँ 1945–1947	100

1

प्रवेश और पृष्ठभूमि

यूरोपियों का आगमन और कंपनी शासन

(1600 - 1857)

"1600 ईसवी से अँग्रेज पादरी और बैरागी, व्यापारी और साहसी यात्री, राजनयज्ञ और नीतिज्ञ, मिशनरी और आदर्शवादी भारत में आते रहे: उन्होंने खरीदारी और बिक्री की, वे युद्ध-स्थलों में बढ़े और लड़े, उन्होंने षड्यंत्र रचे और लाभ उठाया, उन्होंने सहायता की और घाव भरे। उनमें जो महान थे वे देश का आधुनिकीकरण करना चाहते थे तथा उसका मानसिक, नैतिक और राजनीतिक स्तर ऊँचा उठाना चाहते थे। वे सारे राष्ट्र को एक नया जीवन और नई स्फर्ति देना चाहते थे। किंतु उनमें जो क्षुद्र प्रवृत्ति के थे उन्होंने कुत्सित उद्देश्यों से काम किया। उन्होंने फूट को बढ़ावा दिया तथा देश को और गरीब, कमजोर तथा विभाजित बनाया।"

– सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

14 अगस्त, 1947

इस प्राचीन और महान् देश को इतिहास के प्रारंभ से ही अनेक विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा। आक्रांताओं की लहर पर लहर आती गयी और शस्य-श्यामला भारतभूमि को रौंदती गई। स्वाधीनता आंदोलन के इतिहास का लंबा-बहुत लंबा-सिलसिला भी उसी दिन से आरंभ हो गया जिस दिन पहले विदेशी आक्रांता ने देश की धरती पर पाँव रखा। किंतु, यूरोपीय जातियों से पहले जो भी समूह आए - विस्थापितों के हों, प्रवासियों के हों अथवा आक्रांताओं के–वे प्राय: सभी भारत में बस गए, यहीं के हो गए। पंडित नेहरू के शब्दों में-

"भारत में जो भी तत्व आया, यहीं घुलमिल गया, उसने भारत को अपना कुछ दिया भी और उसने उसका लिया भी, उसने अपनी और भारत, दोनों की शक्तियों में वृद्धि की। किंतु जहाँ विदेशी तत्व अलग-अलग रहा और भारत के जीवन में और यहाँ की संपन्न और विविध संस्कृति में भाग न ले सका, वहाँ उसका कोई स्थायी प्रभाव न पड़ा। अंत में वह मिट गया, और मिटते-मिटते अपने को या फिर भारत को कुछ न कुछ हानि पहुँचा गया।"

सत्रहवीं शताब्दी में, यूरोप के लोगों ने, बड़े पैमाने पर, भारत में रुचि लेना आरंभ किया। पुर्तगाली, डच, अँग्रेज और फ्रांसीसी विशेष रूप से आए। पर इनमें से कोई भी भारत में बसने नहीं आया। ये सब भारत के विपुल धन-दौलत और वैभव की कथाओं से आकर्षित होकर, व्यापारिक कंपनियों के रूप में भारत से व्यापार बढ़ाने के बहाने घुसे थे। फ्रांसीसी पर्यटक बर्नियर के अनुसार उस समय का भारत एक ऐसा गहरा कुआँ था जिसमें चारों ओर से संसार भर का सोना-चाँदी आ-आ कर एकत्रित होता जाता था पर जिसमें से बाहर जाने के लिए कोई भी रास्ता न था। अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक किसी भी यूरोपीय कंपनी का यह साहस नहीं था कि वह देश की राजनीति में किसी प्रकार का स्पष्ट हस्तक्षेप कर सके। सभी कंपनियों की नीति केवल व्यापार करने तथा अधिकाधिक आर्थिक लाभ उठाने की थी। यह वह समय था जब भारत में मुगल साम्राज्य समृद्धि, शक्ति तथा गौरव-गरिमा के उच्चतम शिखर पर था।

अँग्रेजी राज की स्थापना (1600-1857)

31 दिसंबर, सन् 1600 ई० को ब्रिटेन की महारानी एलिजाबेथ प्रथम से प्राप्त एक शाही फरमान के अंतर्गत अँग्रेज व्यापारियों का एक दल भारत में आया। बाद में यही दल ईस्ट इंडिया कंपनी के नाम से जाना जाने लगा। अपने अधिकार और व्यापार का क्षेत्र बराबर बढ़ाते रहने तथा शासन से नई-नई रियायतें पाते रहने के लिए कंपनी के अफसरों ने शीघ्र ही भ्रष्टाचार का एक व्यापक जाल फैला दिया और मुगल दरबार के मंत्रियों और कर्मचारियों को घूस तथा विभिन्न प्रकार के अन्य प्रलोभन दे-देकर अपनी ओर कर लिया। 1707 में, औरंगजेब की मृत्यु के बाद, तो स्थिति और बिगड़ गई। मुगल साम्राज्य तेजी के साथ बिखरने लगा। केंद्र की शक्ति क्षीण हो गई। जगह-जगह बहुत से नवाब, नरेश और सरदार उठ खड़े हुए। उनके आपसी झगड़ों और फूट से अँग्रेजी कंपनी ने लाभ उठाकर अपना स्वार्थ-साधन किया। एक इतिहासकार के अनुसार:

> भारत पर यूरोपीय जातियाँ ऐसे टूटीं जैसे मुर्दे पर गिद्ध टूटते हैं। यदि भारत के शासकों में दूरदर्शिता होती, और यदि वे अपने मुसाहिबों और शराब के ऐसे गुलाम न होते तो पश्चिम के व्यापारियों को अपने राज्य में पाँव न जमाने देते। वे चूक गए, जिसका फल यह हुआ कि इन व्यापारी-भेष में आए मेहमानों ने घर पर कब्जा करने का प्रयत्न आरंभ कर दिया।

किंतु शुरू में ईस्ट इंडिया कंपनी को दूसरी यूरोपीय कंपनियों से घोर संघर्ष करना पड़ा। पुर्तगाली और डच कंपनियाँ तो शीघ्र ही हार गईं और मैदान से हट गईं किंतु, फ्रांसीसी और अँग्रेजी कंपनियों का मुकाबला लंबे अर्से तक चलता रहा। दोनों ही कंपनियाँ - फ्रांसीसी डुप्ले के नेतृत्व में तथा अँग्रेज क्लाइव के नेतृत्व में - इस बीच बराबर देशी राजाओं और नवाबों को आपस में लड़ाती रहीं तथा उसकी सहायता से एक दूसरे को हराने का प्रयास

करती रहीं। लगभग बीस वर्षों के अनवरत संघर्ष और तीन बड़ी लड़ाइयों के बाद, अँग्रेजों की जीत हुई।अंतिम युद्ध हुआ 1761 में, वाडीवश में जहाँ फ्रांसीसियों की निर्णायक हार हुई। यद्यपि पेरिस की संधि के अंतर्गत चंद्रनगर, पांडिचेरी आदि कुछ बस्तियों में फ्रांस का प्रभुत्व बना रहा, वाडीवश की हार के बाद फ्रांस ने भारत में अँग्रेजों से लोहा लेने और प्रादेशिक प्रभुसत्ता के लिए संघर्ष करने का विचार छोड़ दिया। इस प्रकार यूरोपीय शक्तियों में, अकेले अँग्रेज ही भारत में बचे रहे।

1746 में एक अँग्रेज सैनिक कर्नल मिल ने लिखा था:

> "मुगल साम्राज्य सोने और चाँदी से भरपूर है। वह साम्राज्य सदा निर्बल और रक्षा-रहित रहा है। यह आश्चर्य की बात है कि सामुद्रिक शक्ति रखने वाले किसी यूरोपीय राजा ने बंगाल को जीतने का प्रयत्न नहीं किया। एक ही मार में ऐसी विपुल धन-राशि प्राप्त की जा सकती है कि जिसके सामने ब्राजील और पेरू की खानें फीकी पड़ जाएँ।"

इसके कुछ ही बाद 1757 में प्लासी के प्रसिद्ध युद्ध में, अँग्रेजी सेनाओं ने, धोखा-धड़ी, घूस और चालबाजी से बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला को हरा दिया। इस हार का मुख्य कारण था सिराजुद्दौला के अपने ही सेनापति मीर ज़ाफ़र का देशद्रोह और धोखा। अँग्रेजों ने मीर ज़ाफ़र को लालच देकर बहका लिया और प्लासी की विजय के बाद कंपनी ने उसे बंगाल का नवाब बना दिया। इस एहसान के बदले में मीर ज़ाफ़र ने कंपनी को 24 परगने की जमींदारी सौंप दी। 1760 में कंपनी ने मीर ज़ाफ़र को हटाकर मीर क़ासिम को नवाब बना दिया और उसने कंपनी को तीन जिले और भेंट कर दिए। जमीन और जिलों के अतिरिक्त मीर ज़ाफ़र और मीर कासिम से कंपनी और उसके कर्मचारियों ने उस समय के मूल्य के हिसाब से लगभग 3 करोड़ रुपए का सोना आदि वसूल किया। भारत में अँग्रेजी साम्राज्य की नींव एक प्रकार से 1757 में प्लासी के मैदान में ही रखी गई।

इस प्रकार जिस ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना केवल व्यापार के लिए हुई थी और जिसकी सेना शुरू में केवल व्यापारिक हितों की रक्षा करने के लिए थी, उसने धीरे धीरे–इतनी धीरे कि किसी को पता भी न चला – अपना कार्यक्षेत्र बढ़ा लिया। कंपनी ने जो नीति अपनाई वह थी स्थानीय झगड़ों में अपनी सुशिक्षित सेना द्वारा एक पक्ष की सहायता करना, उस सहायता के लिए ज्यादा से ज्यादा कीमत वसूल करना और परिणामस्वरूप अपनी शक्ति बढ़ाना। जल्दी ही यह समझा जाने लगा कि कंपनी की सेनाएँ किराए पर ली जा सकती हैं। जब लोगों को इस बात का पता चला कि अँग्रेज किसी की सहायता करने वाले नहीं थे और भारत में राजनीतिक सत्ता स्थापित करने का अपना ही खेल खेल रहे थे, तब तक वे अपनी शक्ति देश में अच्छी तरह जमा चुके थे। जैसा कि लार्ड पार्मस्टन ने बाद में 12 फरवरी, 1858 को कहा था:

> "यह सचमुच बड़े महत्व की बात है कि वे क्षेत्र जिनमें मनुष्य ने सर्वप्रथम विज्ञान और

कला का अरुणोदय देखा आज एक ऐसे द्वीप के लोगों के अधीन हो गए जो उस समय, जबकि इन पूर्वी क्षेत्रों में सभ्यता और समृद्धि अपने शिखर पर पहुँच चुकी थी, नितांत जंगली थे। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इन विस्तृत उपनिवेशों का अर्जन किसी राष्ट्र ने राष्ट्र के रूप में अपनी शक्ति का प्रयोग करके नहीं किया। एक व्यापारिक समुदाय अथवा व्यक्तियों के एक समूह मात्र ने यह सब किया।''

इतिहास की एक भारी विडंबना यह है कि जिस अँग्रेज जाति ने इस प्रकार धीरे-धीरे भारत भूमि पर कब्जा कर लिया और भारतवासियों को असहाय और आश्रित बना दिया, वह उस समय भी, किसी भी मापदंड से भारतीयों से अधिक सभ्य अथवा उन्नत नहीं थी। अठारहवीं सदी के इंग्लैंड में जो कानून और दंड व्यवस्था प्रचलित थी, वह बर्बरतापूर्ण और बहशियाना थी। जैसा कि पंडित नेहरू ने भी लिखा है:

''कितने ही मामलों में जिनका मानवीयता और व्यक्ति की प्रतिष्ठा से संबंध है, भारत इंग्लैंड से कहीं आगे था और उसकी सभ्यता कहीं ऊँची थी। इस काल में भारत में इंग्लैंड अथवा यूरोप की तुलना में अधिक साक्षरता थी, यद्यपि शिक्षा की पद्धति पुरानी थी। संभवत: भारत में नागरिक सुविधाएँ भी अधिक थीं। यूरोप में आम जनता की दशा बहुत पिछड़ी हुई थी और भारत की जनता की तुलना में अच्छी न थी। किंतु सबसे महत्वपूर्ण अंतर यह था कि पश्चिमी यूरोप में कई नई शक्तियाँ और सजीव विचारधाराएँ क्रियाशील थीं और उनके साथ-साथ परिवर्तन हो रहे थे जबकि भारत में स्थिति कहीं ज्यादा स्थिर और गतिहीन थी।''

सन् 1759 में दिल्ली की गद्दी पर मुगल बादशाह शाह आलम बैठा। 1764 में बक्सर के युद्ध में शाह आलम तथा बंगाल और अवध के नवाबों के विरुद्ध कंपनी की एक भारी विजय हुई। इसके परिणामस्वरूप बंगाल पर कंपनी का पूरा आधिपत्य हो गया। नवाब की शक्ति समाप्त कर दी गई, वह नाममात्र का नवाब रह गया। मुगल बादशाह को छब्बीस लाख रुपया सालाना देने का वायदा करके इस बात के लिए मजबूर कर दिया गया कि वह बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी ईस्ट इंडिया कंपनी को सौंप दे। ''दीवानी'' प्राप्त होने का अर्थ यह था कि मालगुजारी आदि कर तथा दीवानी मामलों का पूरा अधिकार कंपनी के हाथों में आ गया। नवाब के पास प्रशासन का उत्तरदायित्व और फौजदारी के मामले रह गए। कंपनी और नवाब का द्वैध प्रशासन 1765 से 1772 तक चलता रहा। इस बीच देशवासियों का जैसा भीषण शोषण हुआ वैसा संभवत: अन्य किसी काल में नहीं हुआ। गौरडन सैण्डरसन के शब्दों में:

अँग्रेजों के आगमन के समय तक बंगाल का प्रांत निश्चय ही संसार का सब से समृद्ध क्षेत्र था। इस धन-संपदा भरे आबाद क्षेत्र में कभी कोई अकाल नहीं पड़ा था। सदियों से बंगाल अपनी निरंतर चली आ रही अतुल समृद्धि के लिए प्रसिद्ध था। किंतु ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने केवल तेरह वर्षों में ही सारे बंगाल प्रांत में तबाही, गरीबी, भुखमरी, अकाल और मौत फैला दी।

कंपनी एक के बाद दूसरे नवाब को गद्दी पर बैठाती और हर नए नवाब से नजराने और दौलत वसूल करती। कंपनी के अफसर, जिन्हें वेतन बहुत थोड़े मिलते थे, निजी व्यापार और भ्रष्टाचार द्वारा थोड़े ही दिनों में विपुल संपदा के स्वामी हो जाते। स्वयं क्लाइव के अनुसार कंपनी के कर्मचारी और एजेंट धन चूसने के लिए प्रजा पर घोर अन्याय और अत्याचार करते थे। डाकुओं की तरह हथियारबंद गिरोह बनाकर वे गाँवों में भी निकल पड़ते और यथाशक्ति लूट-मारकर लौट आते। न कोई कानून था और न कोई न्याय। ब्रिटिश संसद के ही एक सदस्य सर लेविस के अनुसार ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार से अधिक भ्रष्ट, दुराचारी और लुटेरी सरकार सभ्य संसार के इतिहास में दूसरी नहीं हुई। एक अन्य अँग्रेज लेखक के शब्दों में 1765 से 1768 तक के ''तीन साल में पचास लाख से अधिक का सोना-चाँदी बंगाल से विदेशों में गया।'' बहुत कुछ हद तक इसी सब लूटमार और कुशासन के कारण 1769-70 में बंगाल में पहला दुर्भिक्ष पड़ा, जिसमें बंगाल और बिहार की सारी आबादी के एक-तिहाई अथवा तीस लाख के लगभग लोग भूख और भूख से पैदा बीमारियों के शिकार हो गए। तत्कालीन विवरणों के अनुसार अकाल ने ऐसी दुर्दशा कर दी थी कि कई स्थानों पर लोगों ने मुर्दों को खाकर भूख और मौत से लड़ने की कोशिश की। जबकि कंपनी के एजेंटों के घरों और गोदामों में चावलों की कोठियाँ भरी पड़ी थीं, किसानों को अगली फसल बोने के लिए बीज तक नहीं मिल सका। लॉर्ड मैकॉले ने बड़े ही मर्मस्पर्शी शब्दों में बंगाल का चित्र खींचा है:

''कोमलांगी अबलाएँ जिन्होंने कभी घर की चारदिवारी से बाहर पाँव नहीं रखा था और जिन्हें कभी सूर्य की किरणों ने भी नहीं देखा होगा, सड़क चलते राहियों के सामने, पृथ्वी को छू-छूकर, आँचल पसारकर, मुट्ठी-भर चावल की भीख माँगती थीं। विजेता अँग्रेजों के बंगलों और बाग़ों के पास से हुगली नदी की धार में नित्य ही सहस्त्रों भूखी लाशें बहकर समुद्र की ओर चली जाती थीं। जो मर चुके थे और मर रहे थे उनसे कलकत्ते की सड़कें और बाजार पटे पड़े थे। मारनेवालों के संबंधियों में स्वयं इतनी शक्ति नहीं रहती कि वे लाशों को मरघट या नदी तक पहुँचा सकें अथवा गिद्धों और सियारों द्वारा दिन-दहाड़े नोचे और खाए जाने से उनकी रक्षा कर सकें।'' जहाँ एक ओर भारत में अँग्रेजों की लूटमार ने रोंगटे खड़े करने वाली भुखमरी और बेबसी की ऐसी स्थिति पैदा कर दी वहाँ दूसरी ओर इंग्लैंड में इसी बंगाल-बिहार की लूट के माल ने औद्योगिक क्रांति को जन्म दिया।

अमरीकी लेखक ब्रुक ऐडम्स के अनुसार:

''भारत की दौलत के आने से और इंग्लैंड की राष्ट्रीय पूँजी के इस प्रकार बढ़ जाने से इंग्लैंड की शक्ति बढ़ी तथा उसकी गति में लोच और तेजी आई। प्लासी के बाद बहुत शीघ्र ही बंगाल की लूट लंदन में पहुँचने लगी और तुरंत ही उसका प्रभाव पड़ता प्रतीत हुआ। क्योंकि सब प्रमुख लेखकों के मतानुसार औद्योगिक क्रांति का

प्रारम्भ 1770 में हुआ..... कदाचित् जबसे दुनिया बनी, किसी भी पूँजी से कभी भी इतना लाभ नहीं हुआ जितना कि भारत की लूट से क्योंकि लगभग 50 वर्ष तक कोई भी अन्य देश ब्रिटेन का मुकाबला नहीं कर सका।''

द्वैध प्रशासन का अंत हुआ 1772 में, जब वारेन हेस्टिंग्स को बंगाल का गवर्नर बनाकर भेजा गया। कंपनी ने दीवानी का मुखौटा उतार दिया और अपने अंतर्गत क्षेत्र के प्रशासन की पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली। उधर कंपनी के कर्मचारी जो विशाल धन राशियाँ भारत से लूटकर ले जाते थे, उनसे वे ब्रिटेन में संसद के चुनावों को तथा वहाँ के साधारण सार्वजनिक जीवन को कलुषित करने लगे। लॉर्ड मैकॉले के शब्दों में, ''जिस प्रकार ये लोग पैसा इकट्ठा करते थे और फिर जिस प्रकार उसे खर्च करते थे उसे देखकर किसी भी मनुष्य का मन दहल जाएगा।'' ब्रिटेन में यह लोग 'नवाब' कहलाए जाने लगे थे और डर था कि कंपनी के लोग धन के बल पर ब्रिटिश सरकार पर भी अपना कब्जा न जमा लें। इस सबसे ब्रिटेन का जनमत तथा वहाँ के पारंपरिक राजनीतिक नेतागण चिंतित हो उठे। चारों ओर से कंपनी के प्रति सख्ती बरतने, उसकी कार्यवाहियों की जाँच करने तथा उस पर कठोर नियंत्रण रखने की माँग होने लगी। जब 1772 ई० में कंपनी आर्थिक रूप से बिल्कुल दिवालिया हो गई और उसे ब्रिटिश सरकार से कर्ज माँगने पर बाध्य होना पड़ा, तब ब्रिटिश सरकार को कंपनी के मामलों में हस्तक्षेप करने का सुनहरा मौका मिला। इस अवसर से लाभ उठाकर सरकार ने कंपनी के ऊपर संसदीय नियंत्रण स्थापित करने का निर्णय कर लिया। फल हुआ 1773 का नियामक अधिनियम अथवा 'रेगुलेटिंग एक्ट, 1773'। और उसके बाद आए 1781 का न्यायाधिकरण अधिनियम; पिट का भारत अधिनियम, 1784 तथा 1793 से 1853 के विभिन्न चार्टर अधिनियम।

2

1857 का स्वाधीनता संग्राम

कंपनी शासन का अंत

1857 – 1858

"हमारी (अँग्रेजों की) कोशिश यह होनी चाहिए कि भिन्न-भिन्न जातियों और धर्मों के लोगों में हमारी तकदीर से जो भेद-भाव वर्तमान हैं उन्हें पूरी तरह कायम रखा जाए। हमें उनमें एकता लाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। भारत सरकार का कट्टर सिद्धांत होना चाहिए 'फूट डालो और राज करो'।"

–जान कोक

कारण और पृष्ठभूमि

मुगल बादशाह के साथ दुर्व्यवहार: मुगल बादशाह शाह आलम के समय तक अँग्रेज अपने को बादशाह की प्रजा कहते थे। गवर्नर-जनरल की मुहर पर भी 'दिल्ली सम्राट का विशेष सेवक' शब्द अंकित रहते थे। गवर्नर-जनरल सहित कोई भी अँग्रेज जब बादशाह के दरबार में जाता था तो अदब के साथ खड़ा होता था और भेंट देता था। 1785 में सिंधिया ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया था। उसने मुगल सम्राट के अधिकार अपने हाथों में ले लिए थे और शाह आलम के लिए केवल 6 लाख वार्षिक की पेंशन बाँध दी थी। 1804 में अँग्रेजों ने शाह आलम को बहका कर उसे मराठों के खिलाफ कर दिया और उसकी सहायता से मराठों को दिल्ली से निकाल दिया। शाह आलम के निजी खर्चे के लिए 12 लाख रूपए वार्षिक बाँध दिए गए तथा दिल्ली की सुरक्षा का अधिकार कंपनी की सेना के हाथों में आ गया। इस प्रकार जब 1837 में बहादुरशाह 'ज़फ़र' बादशाह बना तब तक मुगल बादशाहत नाम की ही रह गई थी। आर्थिक कठिनाइयों से तंग आकर बाहदुर शाह ने अपने खर्च की राशि में वृद्धि करने की माँग की। इसके उत्तर में बादशाह से उसके तथा उसके खानदान के सारे बचे-खुचे अधिकार कंपनी को सौंप देने के लिए कहा गया जो बहादुरशाह ने अस्वीकार कर दिया। अँग्रेज अफसरों द्वारा बादशाह को जो नजर भेंट दी जाती थीं वे भी अब बंद कर दी गईं। और भी अनेक प्रकार से अँग्रेज अफसरों ने बादशाह

की खुली अवहेलना और अपमान करना शुरू कर दिया। गवर्नन-जनरल की मुहर पर 'दिल्ली सम्राट का विशेष सेवक' शब्द भी निकाल दिए गए। बादशाह से अपनी मर्जी का युवराज तक चुनने का अधिकार छीन लिया गया। लार्ड डलहौजी ने बादशाह द्वारा युवराज चुने गए सबसे बड़े लड़के जवाँबख़्त को युवराज मानने से इनकार कर दिया क्योंकि जवाँबख़्त के विचार अँग्रजों के विरूद्ध समझे जाते थे।

बादशाह के एक छोटे पुत्र को अपनी ओर तोड़कर 1856 में कंपनी ने उसके साथ एक समझौता किया जिसके अनुसार उसे उस शर्त पर कंपनी द्वारा युवराज बनाया गया कि उसे बादशाह के स्थान पर केवल शहज़ादा कहा जायेगा, वह दिल्ली का किला खाली कर देगा तथा एक लाख रूपए मासिक की बजाय केवल पंद्रह हजार रूपए मासिक स्वीकार करेगा। इन शर्तों के मान लिए जाने के तुरंत बाद लार्ड डलहौजी ने बादशाह को आज्ञा दी कि वह लाल किला खाली कर दे और कुतुब पर जाकर रहे। कहते हैं कि इन समाचारों से बहादुरशाह ही नहीं, दिल्ली के भारतीय सैनिक और आम लोग भी क्रोध और अपमान से तिलमिला उठे।

बेदखली की नीति: अधिकाधिक आर्थिक शोषण और राज्य-विस्तार करने के लिए अँग्रेजों ने बराबर ही साम, दाम, दंड, भेद आदि सभी उचित-अनुचित उपायों का प्रयोग किया था। अपहरण अथवा बेदखली की नीति (डाक्ट्रिन ऑफ लैप्स) के अंतर्गत भारतीय नरेशों पर यह पाबंदी लगाई गई थी कि अगर उनके अपना पुत्र न हो तो वे कंपनी के अनुमोदन के बिना किसी को गोद लेकर राज्य का उत्तराधिकारी नहीं बना सकते। यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि गोद लेने की अनुमति बहुत कम और बहुत ही विशेष परिस्थिति में एक विशेष कृपा के रूप में ही दी जाएगी। लार्ड डलहौजी ने इस नीति के द्वारा बहुत से देसी राज्यों को किसी न किसी बहाने से कंपनी के राज्य-क्षेत्र में मिला लिया। नागपुर, बरार, झाँसी, कर्नाटक, तंजौर, और सतारा आदि रियासतों को इसी नीति के बहाने उसने हड़प लिया। बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र बिठूर के नानासाहेब धूधू पंत की आठ लाख रूपए की पेंशन बंद कर दी गई तथा अवध के ताल्लुकेदारों के बहुत कुछ अधिकार छीन लिए गए।

इन सब कारणों से कितने ही राजे-महाराजे और नवाब ब्रिटिश शासन के दुश्मन हो गए क्योंकि जिनकी रियासतें नहीं छीनी गई थीं उन्हें भी लगने लगा कि किसी न किसी दिन जल्दी ही उनकी भी बारी आएगी। अवध की रियासत जो बहुत समृद्ध थी और जिसने अँग्रेज शासकों की धन और सैनिकों से बेहद सहायता की थी, उसे भी कंपनी के राज्य-क्षेत्र में मिला लिया गया और उसके लिए बहाना यह ढूँढा गया कि अवध का शासन खराब है और नवाब भोगी-विलासी है। बंगाल की सेना में बहुत से अवध के लोग थे। वे इस कार्यवाही से बेहद क्रुद्ध हुए तथा अँग्रेजों के दुश्मन बन गए। एक विदेशी इतिहासकार लडलो के अनुसार जिस प्रकार देसी रियासतों का शासन भारतीय नरेशों और नवाबों से छीना गया, यदि उसके विरुद्ध भारतीय जनता क्रोध से न उबल पड़ती तो भारतीयों को

सचमुच पुरूषत्व से गिरा हुआ समझा जाना चाहिए था। वह स्वाभाविक था कि देसी रियासतों के अपहरण ने भारतीय स्त्रियों और बच्चों तक के हृदय में अँग्रेजों को घृणा का पात्र बना दिया। जब किसी राज्य को कंपनी के राज्य-क्षेत्र में मिलाया जाता तो उनकी प्रक्रिया और परिणाम जॉन सलीमन के शब्दों में इस प्रकार होते थे:

"यहाँ के नरेश को हटा दिया जाता है। उसके स्थान पर एक अँग्रेज कमिश्नर नियुक्त कर दिया जाता है। नरेश के तीन-चार दर्जन कुलीन दरबारियों और मंत्रियों को हटाकर तीन या चार सलाहकार नियुक्त हो जाते हैं। प्रत्येक देसी नरेश जिन सहस्त्रों सैनिकों का पालन करता है उनकी जगह सेना के चुने हुए केवल सौ सैनिक रखे जाते हैं। पुराने दरबार का अंत हो जाता है, व्यापार शिथिल पड़ जाता है, राजधानी वीरान हो जाती है, लोग निर्धन हो जाते हैं, अँग्रेज फलते-फूलते हैं और स्पंज की तरह गंगा के किनारों से धन को सोखकर टेम्स नदी के किनारों पर ले जाकर निचोड़ देते हैं।"

आर्थिक शोषणः भारत में अँग्रेजी राज का सबसे बड़ा अभिशाप था देश का आर्थिक शोषण। मुगल बादशाह भी पहले बाहर से आए थे पर यहीं के होकर रह गए थे। उस समय के भारतीयों से उनका धर्म भी भिन्न था किंतु वे एक बार भारत में आऐ तो यहीं बस गऐ, यहीं के हो रहे। उन्होंने भारत से धन लूटकर किसी दूसरे देश को मालामाल करने का प्रयास नहीं किया, बल्कि भारत को ही अपना देश बना लिया। इसके विपरीत अँग्रेज तो भारत में आऐ ही थे उसका आर्थिक शोषण करने के लिए। उन्होंने देश के आर्थिक ढांचे को नष्ट कर डाला। भारत की विपुल संपदा इंग्लैंड पहुँचने लगी। भारतीय ग्रामों की अर्थव्यवस्था के आधार घरेलु उद्योग-धंधों को नष्ट कर दिया गया। भारत के पैसे से इंग्लैड का जितना अधिक उद्योगीकरण हुआ, भारत के परंपरागत उद्योगों का उतना ही अधिक विनाश किया गया ताकि भारत इंग्लैंड की फैक्टरियों के लिए कच्चा माल पैदा करे और फिर उन फैक्टरियों में बने हुए माल की खपत के लिए बाजार का भी काम दे। जो भारतीय बुनकर संसार भर को चकित कर देने वाली प्रसिद्ध ढाके की मलमल बुनते थे, उन्हें अँग्रेजी मिलों में काम करने के लिए बाध्य किया गया। 1840 में पार्लियामेंट्री एंक्वाइरी के संबंध में मांटोगोमरी मार्टिन ने अँग्रेजों को चेतावनी देते हुए कहा था:

"मैंने विस्तार से तथा वर्षों तक हिंदुस्तान के व्यापार के संबंध में जाँच-पड़ताल की है: ठीक निष्कर्ष पर आने के लिए मैंने ईस्ट इंडिया हाउस के सम्मानित डाइरेक्टरों के पत्रों का, जो उन्होंने अपनी उदारता से मुझे देखने को दिए, बड़े परिश्रम से अध्ययन किया है। मैं इस बात से सहमत हूँ कि भारतवर्ष के व्यापार के साथ बड़ा अन्याय हुआ है। यह अन्याय स्वतंत्र व्यापार के शोर के कारण, केवल इंग्लिस्तान ही से व्यापार के संबंध में नहीं हुआ अपितु अन्य देशों से व्यापार के संबंध में भी हुआ है। इसका कारण यह है कि स्वतंत्र व्यापार भारतवर्ष के लिए वर्जित था। सूरत, ढाका, मुर्शिदाबाद तथा अन्य स्थानों की देशी कारीगरी का पतन तथा विनाश ऐसा दुःखमय सत्य है जिसका वर्णन संभव

नहीं। मेरा विचार है कि यह विनाश न्याययुक्त व्यापार द्वारा नहीं हुआ, अपितु मैं यह समझता हूँ कि यह शक्तिशाली के अपनी शक्ति को शक्तिहीन के मुकाबले में प्रयोग करने के कारण हुआ..... मैं यह नहीं स्वीकार कर सकता कि हिंदुस्तान कृषि-प्रधान देश है। भारतवर्ष उतना ही शिल्पजीवी है जितना कि कृषि-प्रधान। जो कोई उसे केवल कृषि-प्रधान बना देना चाहता है वह उसे सभ्यता की दृष्टि में नीचे गिरा रहा है। मैं नहीं समझता कि हिंदुस्तान इंग्लिस्तान का फार्म बने। वह शिल्पजीवी है। वहाँ नाना प्रकार की शिल्पकलाएँ प्राचीन काल से वर्तमान हैं। उसका मुकाबला, जब कभी भी ईमानदारी बर्ती गई, कोई भी राष्ट्र न कर सका। मैं ढाके की मलमल तथा कश्मीर की शालों का उल्लेख नहीं करता, अपितु उन अनेक वस्तुओं का हवाला दूँगा जो संसार का कोई भाग उसके मुकाबले में तैयार नहीं कर सका है। उसको अब कृषि-प्रधान अवस्था तक पहुँचा देना उसके साथ अन्याय होगा।"

बंबई, बंगाल और अवध में कितने ही किसानों और जमींदारों की जमीनें छीन ली गईं। कंपनी के राज्य-क्षेत्र के कुछ भागों में अकाल और भुखमरी ने जनता को त्रस्त किया और बहुत सी जानें गईं। इस प्रकार भारतीय कारीगरी, उद्योग-धंधों और व्यापार को जिस क्रूरता के साथ नष्ट किया गया था तथा कृषि के क्षेत्र में जिस नीति का पालन किया जा रहा था उस सबसे कारीगर, मजदूर, किसान, जमींदार, व्यापारी सभी असंतुष्ट और दुःखी थे।

धार्मिक हस्तक्षेप और जातीय भेद-भावः कंपनी ने भारतीयों के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करके आम लोगों को और भी अपने विरुद्ध कर लिया। सती प्रथा का अंत अपने में एक प्रगतिवादी कदम था किंतु उस समय उसे गलत समझा गया। उत्तराधिकार आदि के कानून में भी परिवर्तन किए गए जो हिंदुओं को पसंद नहीं आए। इसके अतिरिक्त अँग्रेज अफसरों की सहायता से तथा बड़े संगठित ढंग से, विदेशी मिशनरी गरीब हिंदू-मुसलमानों को ईसाई बनाने में लगे हुए थे। इससे जनता में भारी विक्षोभ था। लोगों में यह डर फैलता जा रहा था कि विदेशी सरकार उनके धर्म को नष्ट करने पर तुली हुई है। जहाँ तक सेना का प्रश्न था, भारतीय सिपाही सरकार के रवैये तथा अँग्रेज अफसरों के जातीय दंभ और रंगभेद की भावना से भरे बर्ताव से बहुत असंतुष्ट थे। वेतन, तरक्की आदि सभी मामलों में अनुभवी तथा श्रेष्ठतम भारतीय सिपाहियों को भी नए रंगरूट अँग्रेज टामियों से बहुत नीचा समझा जाता था। उन पर ईसाई बनने के लिए भी तरह तरह के दबाव डाले जाते थे। एक अँग्रेज कमांडर के अपने ही वक्तव्य के अनुसार 28 वर्ष तक वह भारतीय सिपाहियों को ईसाई बनाने का काम करता रहा था और यह उसके फौजी कर्त्तव्य का ही अंग बन गया था। कंपनी के नियंत्रण-मंडल के अध्यक्ष मैंगल्स ने 1857 में ब्रिटिश संसद में बोलते हुए कहा था :

"ईश्वर ने भारत का विशाल साम्राज्य अँग्रेजों को ईसा मसीह की विजय का झंडा एक कोने से दूसरे कोने तक फहराने के लिए ही सौंपा है। प्रत्येक अँग्रेज को अपनी पूरी शक्ति इस काम में लगा देनी चाहिए ताकि सारे भारत को ईसाई बनाने के महान

कार्य में देश के किसी भाग में किसी प्रकार की कोई ढील न पड़ने पाए।"

कुछ लेखकों के अनुसार 1857 के विद्रोह का एक प्रमुख कारण इस काल में भारत में अँग्रेजी सरकार की कुछ प्रगतिशील और सुधारवादी नीतियाँ और कार्यक्रम तथा भारतीयों का पिछड़ापन और अंधविश्वास था। इसमें संदेह नहीं कि कुछ कदम सचमुच सुधार की दृष्टि से उठाए गए थे और समाज के लिए लाभकारी थे किंतु जैसा कि सर टॉमस मुनरो ने अँग्रेजी राज के गुणों के बखान का समापन करते हुए 1817 में ही कहा था :

"ये लाभ बहुत महँगे पड़े। आम लोगों की स्वतंत्रता, राष्ट्रीय चरित्र और उस सबके जो मनुष्य को सामान्य बनाता है बलिदान के मूल्य से ये लाभ खरीदे गए।..... कदाचित विजय का ऐसा कोई अन्य उदाहरण नहीं होगा जिसमें देशवासियों को उनके देश के शासनकार्य से इतना अधिक दूर कर दिया गया हो जितना कि ब्रिटिश भारत में।"

एडवर्ड टॉमसन के अनुसार एक वर्ष बाद 1818 में टॉमस मुनरो ने पुनः कुछ इस प्रकार के विचार व्यक्त किए थे :

"विभिन्न विदेशी आक्रांताओं ने भारतीयों के साथ हिंसा का और प्रायः क्रूरता का व्यवहार किया है किंतु किसी ने भी उनसे इतनी घृणा का व्यवहार नहीं किया जितना कि हम अँग्रेजों ने। किसी ने भी सारी जनता को अविश्वसनीय बताकर, इतना कलंकित नहीं किया जितना हमने किया है। हमने केवल उसी जगह उनको सरकारी नौकरियों में लिया जहाँ उनके बिना काम चलाना असंभव था। यह सब केवल अनुदार ही नहीं बल्कि अनुचित है कि हम पराजित देश की सारी जनता के चरित्र को ही कलंकित कर दें।"

1857 की क्रांति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए अँग्रेज लेखक मैलकम लुई ने लिखा है :

"जो कुछ भी भारतीयों को ऊपर उठा सकता था, उनकी उन्नति कर सकता था, वह सब हमने उनसे छीन लिया....उनके मंदिरों की जायदादें हमने ज़ब्त कर लीं; अपने सरकारी प्रलेखों में हमने उन्हें काफिर कहकर कलंकित किया। उनके देसी नरेशों के राज्य हमने छीन लिए और उनके अमीरों और रईसों की जायदादें जब्त कर लीं; अपनी लूट-खसोट से हमने देश को बरबाद कर दिया और लोगों को सता-सताकर उनसे मालगुजारी वसूल की।"

चरबी वाली कारतूस: ऐसे समय में जब अनेक कारणों से जनता में अँग्रेजी शासन के विरुद्ध क्रोध की ज्वाला पहले से ही सुलग रही थी, वायसराय लार्ड केनिंग ने दो नई आज्ञाएँ जारी कीं। पहली आज्ञा के अनुसार सेना में नए रंगरूटों के लिए समुद्रपार के ब्रिटिश क्षेत्रों में सेवा करना अनिवार्य कर दिया गया जबकि उस समय भारतवासी समुद्रपार जाना अपने धर्म के विरुद्ध समझते थे। दूसरी आज्ञा के अनुसार सैनिकों को एक ऐसी कारतूस का प्रयोग करना पड़ता था जिसमें गाय और सूअर की चर्बी लगी थी और जिसे मुँह से काटना पड़ता था। इतिहासकारों की खोजों से अब यह सिद्ध हो चुका है कि

इन कारतूसों में सचमुच गाय आदि की चरबी का प्रयोग किया गया था और भारतीय सैनिकों की धार्मिक भावनाओं की क्रूर अवहेलना की गई थी। इस आज्ञा ने आग को एकदम भड़का दिया और चिनगारी को ज्वालामुखी बना दिया।

चरबी वाली कारतूसों के मामले को 1857 के संघर्ष का एकमात्र कारण मानना भारी भूल होगी। उसके कारण बहुमुखी थे और बहुत बरसों से पनप रहे थे। वस्तुतः यदि कोई एक सबसे बड़ा कारण खोजा जाए तो वह तो विदेशी शासन और भारतीयों की दासता की स्थिति ही था। विद्रोह के कारणों की खोज असल में अँग्रेज इतिहासकारों और राजनीतिज्ञों के साम्राज्यवादी दृष्टिकोण की उपज है। किसी भी पराधीन देश के लिए स्वयं पराधीनता ही विद्रोह का पर्याप्त कारण है। किंतु अँग्रेज शासक तो यह समझते थे कि ईश्वर ने उन्हें भारतीयों को सभ्य बनाने और अश्वेत जातियों पर शासन करने के लिए विशेष रूप से नियुक्त करके भेजा है। उस समय अँग्रेज यह सोच भी नहीं सकते थे कि भारतीयों को भी स्वाधीनता का अधिकार है अथवा कभी उन्हें भारत भूमि को भारतीयों के ही हाथों में छोड़कर जाने की भी नौबत आ सकती है। अतः 1857 के विद्रोह से उन्हें आश्चर्य होना स्वाभाविक था। उन्होंने विद्रोह का कठोरतापूर्वक दमन करने के साथ-साथ उसके कारण खोजने और उन्हें दूर करने का भी प्रयास किया, इस आशय से और इस विश्वास से कि फिर कभी ऐसी परिस्थिति पैदा न हो जिसमें भारत में अँग्रेजी सत्ता को किसी चुनौती का सामना करना पड़े।

घटनाक्रम

1857 का विद्रोह एक दिन अचानक, अकस्मात् फूट पड़ा हो, ऐसा नहीं था। उसके पीछे पर्याप्त संगठन और तैयारी थी। विद्रोह एक साथ सारे देश में एक ही दिन प्रारंभ होने वाला था। 31 मई की तारीख तय की गई थी और इसकी सूचना देश भर की छावनियों में पहुँचा दी गई थी। किंतु दुर्भाग्यवश विद्रोह निश्चित तारीख से पहले ही फूट पड़ा और मूल योजना गड़बड़ हो गई। मेरठ छावनी में सिपाहियों ने चरबी वाली कारतूसों को दाँतों से काटने से इनकार कर दिया। इस पर अँग्रेज अफसरों ने इन सिपाहियों से हथियार रखवा लिए, उनका कोर्ट मार्शल किया, उनको हथकड़ियों से बाँध दिया तथा तरह-तरह से उनको अपमानित किया। पहले तो सिपाही लोग शांत रहे और उन्होंने निश्चित तारीख अर्थात् 31 मई तक संयम से काम लेने का प्रयास किया; किंतु शहर की महिलाओं के द्वारा ताने देने और लानत-मलामत किए जाने पर सिपाहियों के लिए 31 मई तक प्रतीक्षा करना असंभव हो गया और 10 मई को ही भारतीय स्वाधीनता के लिए प्रथम सशस्त्र विद्रोह आरंभ हो गया। मेरठ में अँग्रेज अफसरों को मौत के घाट उतारने अथवा खदेड़ने के बाद भारतीय सेनाओं तथा नागरिकों की भीड़ दिल्ली की ओर बढ़ी। दो ही दिन के अंदर दिल्ली पर स्वाधीनता-सैनिकों का कब्जा हो गया। मुगल बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र को एक बार फिर सारे भारत का बादशाह घोषित किया गया।

शीघ्र ही 'दिल्ली विजय' का समाचार देश भर में फैल गया। मई का अंत होते-होते अलीगढ़, इटावा, मैनपुरी, रूहेलखंड, मेरठ और दिल्ली आदि, लगभग सारे उत्तरी भारत में, विद्रोह चारों ओर फैल गया और इन सब क्षेत्रों ने विदेशी शासकों से अपनी स्वाधीनता का ऐलान कर दिया। अँग्रेजों ने देशवासियों में आपस में धर्म आदि के आधार पर मतभेद पैदा करके एक-दूसरे को लड़ाने के प्रयास किए। प्राय: यह प्रयत्न असफल रहे; किंतु अँग्रेज सिक्खों को तथा पंजाब, राजपूताना, पटियाला, जींद, हैदराबाद, ग्वालियर आदि के अनेक नरेशों को अपनी ओर करने में तथा उनकी सहायता से भारतीयों की एकता को तोड़ने और विद्रोह को दबाने में सफल रहे। दिल्ली का घेरा महीनों तक चला। अंत में दिल्ली में रसद की कमी, ब्रिटिश साम्राज्य की अतुल शक्ति तथा अँग्रेजों की घूसखोरी और गुप्तचरी की व्यवस्था के कारण भारतीय सेनाओं को हार माननी पड़ी। मई और सितंबर, 1857 के बीच लगभग 4-5 महीने तक दिल्ली में अँग्रेजी शासन खत्म रहा, दिल्ली स्वाधीन रही, राजधानी पर भारतीयों का शासन रहा।

24 सितंबर को कुछ भारतीय फौजों की ही सहायता से अँग्रेज फिर दिल्ली में घुस आए और बादशाह बहादुरशाह को गिरफ्तार कर लिया गया। बादशाह के दो लड़कों को नंगा करके गोली मार दी गई तथा उनके सिर काटकर बादशाह के पास भेंट के रूप में भेजे गए। दिल्ली में नागरिकों का कत्ले-आम मचा दिया गया। अँग्रेज सैनिकों ने जनता पर अमानुषिक अत्याचार किए। उन्हें सरकारी तौर पर एक सप्ताह तक खुले आम लूट-मार करने की पूरी छूट दे दी गई थी। कहते हैं कि इस लूट-मार और कत्ले-आम के सामने लोग तैमूर और नादिरशाह को भी भूल गए। सैकड़ों कैदियों और असंख्य नर-नारियों और बच्चों को मौत के घाट उतार दिया गया। उत्तरी भारत के गाँव के गाँव आगजनी और गोलीबारी से उड़ा दिए गए।

1857 के स्वाधीनता संघर्ष का मुख्य रंगस्थल उत्तरी भारत ही रहा। देहली, कानपुर, बाँदा, बरेली, झाँसी, लखनऊ, आदि में क्रांतिकारियों ने अपनी सरकारों की स्थापना की। आधुनिक हरियाणा, उत्तर प्रदेश और बिहार आदि में विद्रोह के प्रमुख कर्णधार थे राजा तुलाराम, तात्या टोपे, नाना साहेब पेशवा, मौलवी अहमदशाह, बेगम हज़रत महल, रानी झाँसी लक्ष्मीबाई, राजा कुँवरसिंह, अमरसिंह आदि। 20 वर्षीया झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई वीरतापूर्वक अँग्रेजी फौजों से लड़ते-लड़ते शहीद हो गई। तात्या टोपे को उनके एक साथी ने धोखा देकर पकड़वा दिया। मौलवी अहमदशाह की हत्या कर दी गई। संघर्ष थोड़ा बहुत 1859 तक चलता रहा। नाना साहेब, बेगम हज़रत महल, अमरसिंह आदि काफी दिनों तक लड़ते रहे। अंत में वे नेपाल की ओर चले गए। इस प्रकार एक-एक करके प्रथम स्वाधीनता संग्राम के सभी नेता विलीन हो गए।

असफलता के कारण

1857 का राष्ट्रीय विद्रोह एक सफल क्रांति न बन सका और विदेशी शासन से देश

को मुक्ति दिलाने के अपने मुख्य उद्देश्य में असफल रहा। असफलता के प्रमुख कारण थे एकता, संगठन और साधनों की न्यूनता। सिपाहियों के पास लड़ाई के साज-सामान, बंदूकों और गोला-बारूद की कमी थी। कंपनी की सेनाओं के पास काफी संख्या में अनुभवी सेनापति थे जबकि क्रांतिकारी सेनाओं में तात्या टोपे और रानी लक्ष्मीबाई जैसे कुशल सेनानी थोड़े ही थे। क्रांतिकारियों के पास यातायात और संचार के साधनों का भी अभाव था जबकि कंपनी की सेनाओं ने अपनी नई डाक-तार और रेल-व्यवस्था का पूरा-पूरा लाभ उठाया। क्रांति की असफलता का एक बहुत बड़ा कारण था देश भर में सभी क्रांतिकारियों द्वारा पूर्व-निश्चित योजना के अनुसार एक साथ एक ही समय कदम न उठाना, क्रांति का समय से पूर्व छुट-पुट ढंग से जहाँ-तहाँ फूट पड़ना और अँग्रेजों को अपने बचाव की तथा क्रांति के दमन की तैयारी करने का अवसर मिल जाना।

वीर सावरकर के अनुसार 1857 का विद्रोह अपने ध्वंसात्मक स्वरूप में तो सक्षम सिद्ध हुआ और पर्याप्त सफल रहा किंतु उसकी कमी और कमजोरी थी सृजनात्मक और रचनात्मक कार्यक्रम की हीनता तथा किसी स्पष्ट आदर्श का अभाव। यदि विद्रोह का उद्देश्य केवल यही था कि पुरानी रात-दिन की आपसी लड़ाइयाँ फिर से छिड़ जाएँ, मुगल और मराठे जिन्होंने देश में विदेशी शासन को बुलावा दिया फिर से सत्तारूढ़ हो जाएँ तो वह सचमुच इस योग्य नहीं था कि उसके लिए कोई अपना रक्त बहाए। जब तक लड़ाई अँग्रेजों से रही, विद्रोह सफल होता दिखाई दिया किंतु जैसे ही निर्माण का प्रश्न आया देसी रियासतों के नरेशों के आपसी फूट, मतभेद और वैमनस्य जाग उठे, जिनके कारण क्रांति के नेता और देसी नरेश देश को एक कुशल शासन-व्यवस्था न दे सके। इस समय यदि भारतवासी देश में एक सुनियोजित स्वदेशी प्रशासन स्थापित करने में सफल हो जाते और जनता सच्ची एकता और देश-भक्ति का परिचय देती तो 1857 में ही देश से अँग्रेजों की शक्ति और साम्राज्य संभवतः हसेशा-हमेशा के लिए समाप्त हो गए होते।

स्वरूप और मूल्यांकन

1857 का संघर्ष भारतीय स्वाधीनता का संग्राम था, एक असफल राष्ट्रीय क्रांति थी अथवा केवल एक सैनिक विद्रोह-मात्र, इस बारे में इतिहासकारों में मतभेद हैं। कुछ ने इसे केवल मुसलमानों का विद्रोह बताया है तो कुछ ने हिंदुओं के पिछड़ेपन और अंधविश्वासों का परिणाम। कुछ यूरोपीय इतिहासकारों के अनुसार यह कुछ असंतुष्ट सिपाहियों की बगावत के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, जबकि वीर सावरकर, पट्टाभि सीतारमैया आदि भारतीय लेखकों के मत में यह भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम था। इसमें संदेह नहीं कि 1857 का संघर्ष उस स्वतंत्रता आंदोलन से भिन्न था जिसने लगभग 50 वर्ष बाद देश में जोर पकड़ा। इस संघर्ष के नायकों में आज के अर्थों में राष्ट्रीय एकता की चेतना अथवा राष्ट्रीयता की भावना का भी संभवतः अभाव था। यह भी सही है कि इस सशस्त्र संघर्ष

का प्रारंभ सैनिक विद्रोह के रूप में हुआ तथा इसमें प्रमुख भूमिका सामंतों और सैनिकों की ही रही। आम जनता ने अँग्रेजों को देश से निकालने के प्रयास में सैनिकों की कुछ अधिक सहायता नहीं की तथा जिन राजघरानों ने इसमें भाग लिया उनमें कई देश-प्रेम और स्वातंत्र्य-प्रेम की अपेक्षा अपने निहित स्वार्थों से अधिक प्रेरित थे। संगठन की दृष्टि से भी इस संघर्ष में बहुत-सी त्रुटियाँ रह गई थीं। दक्षिण के प्रांत संघर्ष से अछूते रह गए थे तथा पंजाब के सिक्ख राज्यों तथा सिपाहियों ने अँग्रेजों का साथ दिया, कुछ क्रांतिकारी निश्चित समय से पहले अग्नि में कूद पड़े और कुछ आग जलने के बाद भी निश्चित तिथि की प्रतीक्षा करते रहे। किंतु संकल्पना और अभिप्रेरणा, कमियाँ और कारण कुछ ही क्यों न रहे हों, यह तो हर तरह से मानना पड़ेगा कि 1857 का संघर्ष केवल सैनिक विद्रोह मात्र नहीं था। वह अँग्रेजी राज के इतिहास में प्रथम व्यापक और सशस्त्र संघर्ष था, जिसमें देश से अँग्रेजी शासन को समूल नष्ट करने का एक बहुत कुछ संयुक्त और सशक्त प्रयास किया गया। 1857 के संघर्ष की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें विदेशी शासन से मुक्ति पाने के उद्देश्य से न केवल हिंदू-मुसलमान बल्कि ताल्लुकेदार, जमींदार, राजे, नवाब, गरीब किसान, कारीगर, सिपाही तथा मजदूर भी साथ-साथ बड़े-छोटे तथा जात बिरादरी का भेद-भाव छोड़कर अँग्रेजों के विरुद्ध लड़े। आखिर ऐसा कुछ था जिसने इन सबको एक साथ लाकर खड़ा कर दिया था।

क्रांति की असफलता तथा अँग्रेजी सरकार की दमन और अत्याचार की नीति का परिणाम यह हुआ कि शासकों और शासितों के बीच की खाई बहुत बढ़ गई। आतंक से घबराए लोग शांत तो हो गए किंतु रोमांचकारी स्मृतियों और रोष के बोझ से दबे रहे। अँग्रेज शासकों का भी भारतीयों पर से विश्वास उठ गया। साथ ही अँग्रेजों ने अनुभव किया कि जमींदारों, ताल्लुकेदारों, नवाबों, राजों-महाराजों आदि सामंतों और अर्द्ध-सामंतों के जरिए भारतीय जनता पर शासन करना और उन्हें दासता से जकड़े रखना अधिक आसान होगा। अतः एक नई नीति का सूत्रपात हुआ, जिसके परिणामस्वरूप इन लोगों के कालांतर में ब्रिटिश साम्राज्य में निहित स्वार्थ हो गए और ये उसके सबसे बड़े पोषक बन गए। आज जब हम पीछे देखते हैं तो लगता है कि संभवतः यही कहीं अच्छा होता यदि सारे देसी राज्य और राजे-महाराजे तभी समाप्त हो गए होते और सारे देश पर एक-सी ही शासन-व्यवस्था लागू हो गई होती। यदि ऐसा हो जाता तो यह राजे-महाराजे देश के स्वाधीनता संघर्ष में रोड़ा बनने के लिए मौजूद न होते, 1947 में देश की स्वाधीनता के समय देसी राज्यों की जनता इतनी पिछड़ी हुई और बेबस न होती, देश के विभिन्न भागों ने प्रतिनिधिक शासन की ओर एक साथ प्रगति की होती, राष्ट्रीय नेताओं को 500-600 देसी राज्यों के एकीकरण और भारत संघ में मिलाने की भारी समस्या का सामना न करना पड़ा होता, सामंतशाही का कहीं पहले अंत हो जाता और आज भी इन भूतपूर्व नरेशों के विशेषाधिकारों और प्रीवी-पर्सों आदि का प्रश्न भारतीय राजनीति और लोकतंत्र के सामने न होता और संविधान में 26 वें संशोधन की जरूरत न पड़ी होती। 1857 के

विद्रोह से अँग्रेजों को यह भी स्पष्ट हो गया कि वे भारतीयों में आपस में फूट और घृणा पैदा करके ही भारत पर अपना राज कायम रख सकते थे। अतः ब्रिटेन की भारत-नीति में आमूल परिवर्तन किए गए तथा हिंदू-मुसलमानों को एक-दूसरे के विरुद्ध भड़काने और लड़ाते रहने की नीति का प्रारंभ हुआ। इसी उद्देश्य से भारतीय सेना को जातिगत आधार पर संगठित किया गया तथा जाट, राजपूत, सिक्ख आदि नामों से नए रेजीमेंट बनाए गए ताकि 1857 के विद्रोह में सेना की जिस आपसी एकता के दर्शन हुए थे उसकी पुनरावृत्ति न हो।

जहाँ तक भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के इतिहास का संबंध है, 1857 के विद्रोह और उसके दमन की प्रक्रिया से एक ऐसी कटुता और तलखी की भावना का जन्म हुआ जिसने विदेशी शासन के प्रति अकर्मण्यता के युग का अंत कर दिया तथा एक नए युग का आरंभ किया। समय-समय पर आवश्यकतानुसार संघर्ष का रूप बदलता रहा। किंतु, स्वतंत्रता का संघर्ष एक बार शुरू हुआ तो फिर चलता ही रहा, जब तक कि देश स्वाधीन न हो गया।

1858 का भारतीय-शासन अधिनियम

कहते हैं 1857 के विद्रोह के फलस्वरूप भारत की शासन प्रणाली में अनेक मौलिक और महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। कुछ विदेशी लेखकों के अनुसार 1857 की घटनाओं ने ब्रिटिश सरकार की तथा जनता की आत्मा को इतनी बुरी तरह झकझोर कर जगा दिया कि ईस्ट इंडिया कंपनी का अंत करना अनिवार्य हो गया। किंतु, वस्तुतः कंपनी के समाप्त किए जाने का कारण 1857 का असफल विद्रोह मात्र नहीं था। कंपनी के विरुद्ध स्वयं ब्रिटेन में जनमत बहुत पहले से उभर रहा था और 1853 के चार्टर एक्ट से तो यह स्पष्ट हो ही गया था कि ब्रिटिश सरकार एक व्यापारी कंपनी के हाथों में इतने बड़े देश के साम्राज्य को अब अधिक लंबे अर्से तक छोड़े रहने के लिए तैयार नहीं थी। वस्तुतः बात यह थी कि कंपनी के संचालक और साझेदार तो चाहते थे कि भारत के शासन, व्यापार और लूट-मार के माल पर अकेले उनका आधिपत्य बना रहे, किंतु इंग्लैंड में उनकी समृद्धि और ठाट-बाट को देखकर दूसरे लोगों को स्वाभाविक ईर्ष्या होती थी। वे चाहते थे कि कंपनी का भारत के साथ व्यापार आदि का एकाधिकार समाप्त कर दिया जाए ताकि वे भी इस समृद्धि में हिस्सा बाँट सकें। भारत में रहने वाले यूरोपीय और आँग्ल-भारतीय लोग भी चाहते थे कि कंपनी के शासन का अंत हो और सीधे ब्रिटिश सरकार का शासन स्थापित हो। ऐसी स्थिति में 1857 का विद्रोह तो कंपनी का शासन समाप्त करने के लिए एक बहाना मात्र था। वैसे भी 1857 के विद्रोह के लिए कंपनी को दोष नहीं दिया जा सकता था क्योंकि वर्षों पहले से भारत में कंपनी के शासन पर ब्रिटिश सरकार का लगभग पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो चुका था। 1857 के भारतीय-शासन विधेयक को संसद में उपस्थित करते समय तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान मंत्री लार्ड पामर्स्टन ने भी कहा था कि वे कंपनी के किसी दोष के कारण

ऐसा नहीं कर रहे थे, वह तो इस विधेयक से एक असुविधाजनक और हानिकारक व्यवस्था का अंत करना चाहते थे।

1858 के भारतीय शासन अधिनियम (गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1858) ने कंपनी के शासन की अंत्येष्टि कर भारत का शासन सीधे ब्रिटिश सरकार के हाथों में सौंप दिया। कंपनी खत्म हो गई और राज-काज सम्राट के नाम से होने लगा। किंतु, यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इस अधिनियम से जो परिवर्तन हुए उनसे भारत में अँग्रेजी राज की व्यवस्था में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ा, लगभग सब कुछ ज्यों का त्यों चलता रहा। केवल गवर्नर-जनरल के हाथों में धीरे-धीरे अधिकाधिक शक्ति के केंद्रीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट हो गई और देसी राज्यों के साथ संबंधों के सिलसिले में गवर्नर-जनरल अब "वायसराय" कहलाने लगा क्योंकि वह सम्राट के प्रतिनिधि की हैसियत से ही अब देसी नरेशों से संबंध रख सकता था।

विक्टोरिया की घोषणा

नई व्यवस्था का आरंभ महारानी विक्टोरिया की घोषणा के साथ हुआ। घोषणा एक नवंबर को इलाहाबाद में आयोजित एक विशेष दरबार में की गई थी। घोषणा को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 1857 का सशस्त्र विद्रोह असफल भले ही हो गया हो, वह बेकार नहीं गया और उसका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। अँग्रेज शासकों ने उन कारणों को दूर करने के बारे में गंभीरतापूर्वक सोच-विचार किया जिन्होंने 1857 के विद्रोह को अनिवार्य कर दिया था। घोषणा में कहा गया था कि देसी नरेशों के सम्मान और अधिकारों की रक्षा की जाएगी, उन्हें स्वेच्छा से गोद लेने का अधिकार होगा, कंपनी द्वारा उनके साथ की गई संधियों, करारों आदि का पालन किया जाएगा तथा उनके क्षेत्रों को नहीं छीना जाएगा, 1857 के विद्रोह में भाग लेने वाले विद्रोहियों के साथ दया और क्षमा का व्यवहार किया जाएगा, बंदियों को रिहा कर दिया जाएगा तथा सभी धर्मों और जातियों के लोगों को बिना किसी पक्षपात के, योग्यतानुसार सरकारी पदों पर नियुक्ति के अवसर दिए जाएँगे। घोषणा में यह भी विश्वास दिलाया गया था कि जनता के धार्मिक विचारों और विश्वासों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा तथा देश की परंपराओं, आस्थाओं और रीति-रीवाजों का आदर किया जाएगा। भारत सरकार के कानून सदस्य (लॉ मेंबर) सर जेंस होफ़ेन ने इस घोषणा के संबंध में कहा था कि यह घोषणा केवल एक औपचारिक प्रलेख था, कोई प्रतिज्ञा-पत्र नहीं जो अँग्रेजी शासकों को वचन-बद्ध करे या अपनी कोई कानूनी कीमत रखे। यद्यपि घोषणा में दिए गए आश्वासन पूरे नहीं किए गए, फिर भी यह घोषणा एक विशेष महत्व रखती है क्योंकि यही आने वाले लगभग 60 वर्षों तक अर्थात् 1917 तक ब्रिटिश सरकार की भारत नीति का आधार स्तंभ तथा प्रशासन के कर्मों की कसौटी बनी रही।

3

राष्ट्रीयता और क्रांति का स्वर

कांग्रेस का जन्म (1875–1914)

"स्वाधीनता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर रहेंगे।"

–लोकमान्य तिलक

इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना

उन्नीसवीं शताब्दी की अंतिम चौथाई का काल भारत में राष्ट्रीयता के जन्म का काल कहा जा सकता है। इस काल में कई राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण हुआ। उन सभी का उद्देश्य अपने-अपने निर्धारित क्षेत्र में भारतीय राजनीति को नई दिशा देना था। इनमें से कुछ संगठन थे, बंगाल का इंडियन एसोसिएशन जिसकी स्थापना 1851 में हुई और बांबे प्रेसीडेंसी का बांबे एसोसिएशन जो अगले वर्ष अर्थात 1852 में स्थापित हुआ।

1876 में सुरेंद्रनाथ बनर्जी (1848-1925) ने इंडियन एसोसिएशन बनाया और 1869 में दादा भाई नौरोजी (1825-1917) ने ईस्ट इंडिया एसोसिएशन की बंबई शाखा का संगठन किया। इन संगठनों में से किसी को भी राजनीतिक स्वाधीनता की कोई संकल्पना नहीं थी, अँग्रेजी शासन से मुक्ति पाना उनका उद्देश्य नहीं था, राष्ट्रीय अभ्युदय के किसी साँगोपाँग कार्यक्रम का भी उनके पास अभाव था। वे प्रायः बड़े जमींदारों, व्यापारियों अथवा थोड़े से चोटी के अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के संगठन थे। फिर भी, इन संगठनों ने देश के विभिन्न भागों में राजनीतिक चेतना जगाने का बहुमूल्य काम किया। 1885 में जिस इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई उसका पथ प्रशस्त करने में इन संगठनों का बहुत बड़ा हाथ रहा।

1880 में ग्लैडस्टन सरकार ने लॉर्ड रिपन को भारत का वायसराय बनाकर भेजा। इससे पहले के वायसराय लॉर्ड लिटन ने पढ़े-लिखे भारतीयों के प्रति बड़ा अनुदार और प्रतिक्रियावादी नीति का अनुसरण किया था। लॉर्ड रिपन ने अनुभव किया कि यदि अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों को देश के शासन में किसी प्रकार साझीदार नहीं बनाया

गया, तो वे सदा के लिए ब्रिटिश राज के शत्रु बन जाएँगे। लॉर्ड लिटन ने भारतीय समाचार पत्रों पर जो बहुत से प्रतिबंध लगा दिए थे, रिपन ने उन्हें समाप्त कर दिया तथा स्थानीय प्रशासन में भारतीयों को अवसर देना प्रारंभ किया। 1883 में लॉर्ड रिपन ने एक विधेयक का प्रस्ताव किया जिसके अनुसार भारतीय मजिस्ट्रेट भारत में बसे यूरोपीय अपराधियों के मुकदमों की भी सुनवाई कर सकते थे। इस विधेयक से जो इलबर्ट बिल के नाम से प्रसिद्ध हुआ, यूरोपीयों में भारी रोष फैल गया। वे लोग यह कब सहन कर सकते थे कि कोई काली चमड़ी वाला गोरों के मुकदमें सुने और निर्णय दे। भारत में बसे यूरोपीयों ने विधेयक के विरुद्ध एक बड़ा संगठित आंदोलन किया और अंत में उन्हें सफलता मिली। संगठन की इस सफलता से प्रभावित होकर राजनीतिक प्रवृत्ति वाले कुछ अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों ने 1883 में सर्वप्रथम एक राष्ट्रीय सम्मेलन (नेशनल कांफ्रेंस) बुलाया। वस्तुत: इस सम्मेलन में ही इंडियन नेशनल कांग्रेस की नींव रखी गई। वैसे तो अधिक गहराई से सोचें तो कांग्रेस 1857 के विद्रोह और उसके दमन के समय से ही फैल रहे जागरण की परिणति थी। किंतु, यह कहना कठिन होगा कि अपने जीवन के प्रारंभिक वर्षों में कांग्रेस कहाँ तक उस राजनीतिक और आर्थिक असंतोष की वाणी थी जो विदेशी शासन के अन्यायों और दोषों के कारण घुमड़ रहा था। कांग्रेस का संगठन तो संभवत: अँग्रेजी सरकार के आशीर्वाद से, एक अवकाश-प्राप्त अँग्रेज अफसर एलेन ओक्टेवियन ह्यूम ने इस उद्देश्य से किया था कि देश में बढ़ता हुआ असंतोष किसी प्रकार उग्र रूप धारण न करे और उसे उदारवादी दिशा में अग्रसर किया जा सके। लाला लाजपतराय के अनुसार ह्यूम का विश्वास था कि भारत में शीघ्र ही भयंकर विस्फोट की संभावना है जिसमें ब्रिटेन का भारतीय साम्राज्य विनष्ट हो जाएगा। बंबई प्रेसीडेंसी में सचमुच कुछ दंगे हो भी चुके थे। अत: कांग्रेस की स्थापना की तत्कालीन अभिप्रेरणा और उद्देश्य संभवत: ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा करना और उस पर आए खतरे को टालना ही था। कांग्रेस के जन्मदाताओं को अपने उद्देश्य में कुछ समय तक पर्याप्त सफलता मिली। बहुत से एसोसिएशन कांग्रेस में मिल गए तथा कांग्रेस उन सारी राष्ट्रवादी शक्तियों का संगम बन गई तो आर्य समाज, प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज, थयोसॉफ़ी आदि धार्मिक सुधार तथा सामाजिक सेवा आंदोलनों के रूप में सक्रिय थीं। अपने प्रारंभिक वर्षों में कांग्रेस की प्रमुख माँगें केवल यही थीं कि कुछ राजनीतिक-सांविधानिक सुधार किए जाए, कौंसिलों में प्रतिनिधिक तत्व को भी स्थान मिले और भारतीयों को नौकरियों में अधिक अवसर दिए जाएँ। इस प्रकार सब मिलाकर, प्रारंभ में कांग्रेस एक सुधारवादी संगठन थी, कोई क्रांतिकारी आंदोलन नहीं। उस पर सुरेंद्रनाथ बनर्जी, दादा भाई नौरोजी और गोपाल कृष्ण गोखले जैसे उदारवादी राष्ट्रवादियों का प्रभुत्व था और इन लोगों का ब्रिटिश सरकार की जन्मजात न्यायप्रियता तथा प्रजातांत्रिक भावनाओं में असीम विश्वास था क्योंकि वे अँग्रेजी पढ़े और अँग्रेजी संस्कृति तथा आदर्शों में ढले हुए देश के एक छोटे से विशिष्ट वर्ग का नेतृत्व करते थे। वे भारत में नौकरशाही के आलोचक थे और

भारतीयों को शासन में अधिकार दिए जाने के पक्षपाती, किंतु उनका अँग्रेजों की सदाशयता में तथा ब्रिटिश संस्थाओं की श्रेष्ठता में अटूट विश्वास था। वह समझते थे कि भारत सांविधानिक उपायों द्वारा ही, ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग की नीति का पालन करते हुए, धीरे-धीरे ब्रिटिश शासन के अंतर्गत, स्व-शासन के लक्ष्य की ओर बढ़ता चला जाएगा। इन उदारवादियों की विचारधारा और कार्यक्रम में बहुत सी दुर्बलताएँ थीं। उन सब का मूल कारण संभवत: यही था कि उन्होंने भारत और इंग्लैंड के हितों को परस्पर संबद्ध मान लिया था। फ़िर भी, यही लोग भारतीय राष्ट्रवाद के सूत्रधार थे और इन्हीं के द्वारा महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों पर किए गए सार्वजनिक विचार-विमर्श से जनता में राजनीतिक चेतना जगनी प्रारंभ हुई।

दिसंबर 1885 में बंबई में कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन हुआ जिसमें 72 प्रतिनिधियों नै भाग लिया। इन में प्राय: सभी अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोग विशेषकर वकील, कुछ बंबई के व्यापारी और बंगाल के जमींदार थे। कुछ अँग्रेज भी उपस्थित थे। इस प्रथम अधिवेशन में ही कांग्रेस ने माँग की कि (1) केंद्र में और प्रांतों में विधान परिषदों का विस्तार किया जाए, (2) उच्च सरकारी नौकरियों में भारतीयों को भी पूरा अवसर दिया जाए, (3) सैनिक व्यय में कमी की जाए, तथा (4) एक शाही आयोग भारतीय प्रशासन की जाँच करे। 1888 तक कांग्रेस यही विनम्र निवेदन हर वर्ष अपने अधिवेशनों में दोहराती रही। इन दिनों की कांग्रेस का दृष्टिकोण और अभिप्रेरणा दादा भाई नौराजी के इन शब्दों में मूर्त हुई :

> "हम ब्रिटिश प्रजा हैं, हम अपने हकों की माँग कर सकते हैं....अगर ब्रिटेन की सर्वश्रेष्ठ संस्थाओं से हमें वंचित रखा जाता है तो फिर भारत को अँग्रेजों के स्वामित्व में रहने से क्या लाभ? यह तो एक और एशियाई निरंकुश शासन मात्र होगा।"

होम रूल बिल

1889 में कांग्रेस के बंबई अधिवेशन में ब्रिटिश हाऊस ऑफ कॉमंस के एक वरिष्ठ सदस्य, चार्ल्स ब्रैडला उपस्थित थे। ब्रैडला भारतीय मामलों में सक्रिय रुचि दर्शाते रहे थे जिसके कारण ब्रिटिश संसद में लोग उन्हें 'भारत के लिए सदस्य' के नाम से संबोधित करने लगे थे। ब्रैडला ने विधान परिषदों में सुधार के विषय को लेकर, कांग्रेस की माँगों के आधार पर ब्रिटिश संसद के लिए एक विधेयक का प्रारूप बनाया था। वे चाहते थे कि इस विधेयक पर भारतीय नेताओं के परिपक्व विचार और प्रतिक्रियाएँ एकत्र कर उनका भी यथासंभव विधेयक में समावेश कर सकें। अत: बंबई अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें भारत में प्रतिनिधिक संस्थाओं की योजना की एक रूपरेखा दी गई थी। प्रस्ताव के समर्थकों में थे पंडित मदन मोहन मालवीय, बिपिन चन्द्र पाल, लाला लाजपत राय, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, जी० सुब्रह्मण्यम अय्यर तथा अन्य। इंग्लैंड

वापस पहुँच कर फरवरी, 1890 में चार्ल्स बैडला ने हाऊस ऑफ कॉमंस के सामने अपना 'भारतीय परिषद संशोधन विधेयक' प्रस्तुत किया। विधेयक के अनुसार केंद्रीय और प्रांतीय परिषदों का विस्तार होना था, सदस्यों की संख्या बढ़नी थी, परिषदों को आंशिक रूप में निर्वाचन के सिद्धांत पर संगठित किया जाना था तथा उन्हें अधिक अधिकार दिए जाने थे। 1889 के कांग्रेस के बंबई अधिवेशन में पास की गई योजना तथा चार्ल्स ब्रैडला के इस विधेयक को बाद में 'होमरूल स्कीम' और 'होमरूल बिल' आदि नामों से पुकारा गया। चार्ल्स ब्रैडला का विधेयक पारित तो न हो सका और ब्रैडला की भी 1891 में मृत्यु हो गई; किंतु ब्रैडला के इस प्रयास की विशेष महत्ता है क्योंकि पहली बार इस में भारतीय परिषदों में निर्वाचित सदस्यों का प्रावधान किया गया और बाद में लिबरल पार्टी की विजय होने पर इसी विधेयक के आधार पर ब्रिटिश सरकार ने अपना भारतीय परिषद विधेयक पेश किया। संसद द्वारा पारित होने के बाद यही 1892 का अधिनियम बना जिसका उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है। इस प्रकार कांग्रेस के मंच से रखी गई राष्ट्रवादी माँगों और ब्रिटिश सरकार द्वारा किए गए सांविधानिक सुधारों में एक घनिष्ठ अंतर्संबंध स्थापित हुआ और लंबे सिलसिले का सूत्रपात हुआ जिसके अंतर्गत अगले पचास वर्षों में ब्रिटिश सरकार ने बहुत कुछ संकोच और संदेह के साथ, बहुत धीरे-धीरे, भारतीयों को कुछ अधिकार देने की दिशा में, अनिच्छापूर्वक, फूँक-फूँक कर कदम बढ़ाना आरंभ किया। जो कुछ दिया गया वह हर बार माँग से बहुत कम रहा। जो भी हो, एक ओर राष्ट्रीय माँगों तथा दूसरी ओर सांविधानिक सुधारों की किस्तों से भी स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास बराबर बनता गया।

उग्रवाद और क्रांति की लहर

1892 के भारतीय परिषद अधिनियम के बाद, उन्नीसवीं सदी पूरी भी न होने पाई थी कि भारतीय राजनीति में एक नूतन प्राणधारा का विकास हुआ। यह धारा थी उग्रवाद की। महाराष्ट्र में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, बंगाल में अरविंद घोष और विपिन चन्द्र पाल तथा पंजाब में लाला लाजपत राय जैसे नए नेता उठे जिहोंने राष्ट्रीय जीवन की रागिनी में नया स्वर भरा, उसे नई गति और नई दिशा प्रदान की। माँगों और प्रार्थनाओं का स्थान अब राष्ट्रीय आंदोलन और क्रांति की पुकार ने ले लिया। ये नेता उग्रवादी कहलाए क्योंकि उनका दृष्टिकोण उदारवादी अथवा सुधारवादी न होकर क्रांतिकारी था। वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सक्रिय विरोध करने पर जोर देते थे। उनका विश्वास था कि हाथ-पाँव जोड़कर अँग्रेजों से प्रार्थनाएँ करने तथा स्वतंत्रता की भीख माँगने से कभी स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। उसके लिए स्वावलंबन, संगठन और संघर्ष की आवश्यकता होती है। बड़े प्रभावशाली शब्दों में लोकमान्य तिलक ने कहा, "स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर रहेंगे।" यही नारा आगे चलकर भारतीय स्वतंत्रता का मूल-मंत्र बन गया।

भारतीय राजनीति में उग्रवाद के विकास के अनेक कारण थे। नौकरशाही, कुशासन, दुर्भिक्ष और महामारी जैसी दैनिक आपदाओं, धार्मिक पुनरुत्थान के प्रभाव तथा बढ़ते हुए बुद्धिजीवी और नए मध्यम वर्ग के आर्थिक और राजनीतिक असंतोष के फलस्वरूप जनता के मन में विदेशी शासन के प्रति घोर घृणा की भावना उत्पन्न हो गई थी। कांग्रेस के 21 वें अधिवेशन में अध्यक्षीय पद से मद्रास में बोलते समय 1905 में गोपाल कृष्ण गोखले ने प्रशासन की कड़ी आलोचना की और कहा कि वह भारतीय जनमत का सर्वथा तिरस्कार करता है, जनता की गहनतम भावनाओं की अवहेलना करता है, शासितों के हितों के स्थान पर शासन के हितों की ही चिंता करता है, अतः उसके सम्मुख न्याय की दुहाई देना कोरा मजाक है। ब्रिटिश उपनिवेशों में तथा स्वयं भारत में अँग्रेजों के जातीय अहंकार तथा भारतीयों के प्रति अपमानजनक व्यवहार से यह घृणा और भी बढ़ी। भारतीय समाचार पत्रों तथा कलकत्ता, मद्रास और बंबई में स्थापित नए विश्वविद्यालयों ने भी राजनीतिक चेतना की वृद्धि में प्रमुख योगदान दिया। दूसरी ओर, तत्कालीन वायसराय लॉर्ड कर्जन बड़ा प्रतिक्रियावादी और क्रूर साम्राज्यवादी था। शिक्षित भारतीयों को भी कर्जन बहुत गिरी हुई दृष्टि से देखता था। उसका विचार था कि इस देश का उद्धार अँग्रेजों को ही करना है और भविष्य में कभी भी भारतीय हाथों में सत्ता सौंपने का प्रश्न नहीं उठता। कर्जन का उद्देश्य था भारत में राष्ट्रीय भावना और आंदोलन का कठोरता के साथ दमन करना। कर्जन ने फूट डालो और राज्य करो की नीति का अनुसरण किया और जनता की भावनाओं की जरा भी परवाह किए बिना 1905 में बंग-भंग की योजना बना डाली। बंग-भंग के विरुद्ध सारे देश में प्रचंड आंदोलन हुआ। इस प्रकार, उग्रवाद की भावना को चरम सीमा पर पहुँचाने और राष्ट्रीय आंदोलन को और तेज करने में काफी जिम्मेवारी कर्जन की और उसकी नीति की थी।

उग्रवाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति तो क्रांतिकारी भावना का द्योतक था ही, वह भारतीय राष्ट्रीयता की उदारवादी प्रवृत्ति और सुधारवादी नेताओं के विरुद्ध भी विद्रोह का शंखनाद था। 1904, 1905 और 1906 के अपने अधिवेशनों में कांग्रेस ने सांविधानिक सुधारों की आवश्यकता पर जोर दिया तथा 'स्वराज' के अपने उद्देश्य की घोषणा की। स्वराज का अर्थ उस समय वैसी ही शासन-व्यवस्था था जैसी कि स्वशासित उपनिवेशों में थी। कांग्रेस ने यह भी माँग की कि विधान परिषदों का तुरंत विस्तार किया जाए ताकि उनमें "जनता का अधिक और सचमुच प्रभावी प्रतिनिधित्व तथा देश के प्रशासनिक और आर्थिक मामलों में कुछ ज्यादा नियंत्रण हो सके।"

उग्रवादियों ने ब्रिटिश सरकार के विरोध में स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन प्रारंभ किए जिनके द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में एक नए अध्याय की रचना हुई। 1907 के सूरत अधिवेशन में कांग्रेस संगठन उदारवादी अथवा 'नरम' तथा उग्रवादी अथवा 'गरम' दलों में विभाजित हो गया। अधिवेशन में लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में उग्रवादियों ने 'स्वराज्य', 'राष्ट्रीय शिक्षा' और 'बहिष्कार' संबंधी प्रस्तावों के पास किए जाने का आग्रह

किया। उदारवादियों ने इनका विरोध किया। झगड़ा इतना बढ़ा कि उदारवादियों ने उग्रवादियों को कांग्रेस से निष्कासित कर दिया। इसके बाद 1916 तक कांग्रेस पर उदारवादियों का आधिपत्य रहा। 1916 में ही उग्रवादी और उदारवादी फिर से साथ-साथ आए। वस्तुतः बीसवीं सदी के प्रारंभ में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की तीन विभिन्न धाराएँ थीं : एक उदारवादी, दूसरी उग्रवादी तथा तीसरी 'आतंकवादी' क्रांतिकारी। क्रांतिकारी भी उग्रवादी राष्ट्रीयता का ही अंग थे किंतु वे विदेशी शासन से मुक्ति के लिए हिंसात्मक उपायों का प्रयोग आवश्यक और उचित समझते थे। महाराष्ट्र में वीर सावरकर और श्यामजी कृष्ण वर्मा नें क्रांतिकारी आंदोलन का संगठन किया। बंगाल में बंग-भंग के दिनों में इसका विस्फोट हुआ और वीरेंद्र घोष तथा भूपेंद्रनाथ दत्त जैसे लोगों ने इसका नेतृत्व किया। लगभग इसी समय पंजाब में क्रांतिकारी समितियों की स्थापना हुई। सरदार अजीत सिंह, भाई परमानन्द, उनके छोटे भाई बालमुकुंद तथा लाला हरदयाल ने क्रांतिकारियों का संगठन करने में पहल की। भारत के बाहर भी क्रांतिकारी क्रियाशील थे–इंग्लैंड में श्यामजी कृष्ण वर्मा और वीर सावरकर, फ्रांस में मैडम कामा और अमरीका में लाला हरदयाल तथा अन्य लोग।

राष्ट्रीय आंदोलन में उदारवादी कमजोर पड़ते जा रहे थे और उग्रवादियों तथा क्रांतिकारियों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। क्रांतिकारियों के षड्यंत्र, राजनीतिक डाकेजनी तथा अँग्रेजी अफसरों की हत्या की घटनाओं के समाचार बढ़ते जा रहे थे। ऐसी स्थिति में, कहीं कांग्रेस संगठन और सारा राष्ट्रीय आंदोलन उग्रवादी क्रांतिकारियों के हाथों में न चला जाए, इस संभावना से अँग्रेज सरकार घबरा उठी। उसकी नीति यह थी कि उदारवादियों से समझौता करने का प्रयास किया जाए और गरम दल के उग्रवादियों को कुचल दिया जाए। 1907 में लाला लाजपत राय और सरदार अजीत सिंह को बिना मुकदमा चलाये माँडले की जेल में भेज दिया गया। समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता पर पाबंदी लगा दी गई। 1908 में लोकमान्य तिलक को **केसरी** में लिखे गए एक लेख के लिये 6 साल की सख्त सजा दी गई। बहुत से लेखक, प्रकाशक, मुद्रक और संपादक जेलों में बंद कर दिए गए तथा बहुत से लोगों को आतंकवादी कृत्यों के लिए सजाएँ दी गईं तथा फाँसी तक पर चढ़ाया गया। इस प्रकार जहाँ एक ओर दमनचक्र पूरी तेजी के साथ चलाया गया वहाँ दूसरी ओर कुछ ताजा सांविधानिक सुधार भी अनिवार्य समझे जाने लगे। साथ ही, राष्ट्रीय आंदोलन को किसी प्रकार अंदर से तोड़ने-फोड़ने की तरकीब भी सोची जाने लगी।

सांप्रदायिक समस्या

ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आंदोलन का स्वर तीव्र होता गया, त्यों-त्यों अँग्रेज अधिकारियों की यह चिंता बढ़ने लगी कि उसकी वेगवती धारा को किस प्रकार रोका जाए। अँग्रेजों को शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि जब तक भारतीयों में बढ़ती एकता और राजनीतिक चेतना का

स्वर किसी प्रकार अवरुद्ध नहीं किया जाएगा तब तक भारत में अँग्रेजी राज सुरक्षित न हो सकेगा। राष्ट्रीयता की शक्तियों को क्षीण करने के लिए उन्होंने सा प्रदायिकता को बढ़ावा देने का निश्चय किया। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि भारत में सांप्रदायिकता के उद्भव और विकास का सारा दोष अँग्रेजों पर ही है, फिर भी यह अवश्य सत्य है कि देश की राजनीति के क्षेत्र में सांप्रदायिकता के प्रभावीकरण का मुख्य उत्तरदायित्व अँग्रेज शासकों की नीति का ही है। यदि जातियों के अथवा धर्म के आधार पर भारतीयों में फूट डालने की नीति का सहारा न लिया गया होता तो सांप्रदायिक समस्या ने वह स्वरूप और महत्व धारण न किया होता जो उसने किया और जिसके कारण स्वाधीनता के बाद भी, देश का सांप्रदायिक आधार पर विभाजन हो जाने के बाद भी, हमारा राजनीतिक जीवन और हमारी सांविधानिक व्यवस्था स्वस्थ वातावरण में नहीं पनप पाए।

अँग्रेजों का आधिपत्य होने से पहले देश में मुसलमानों का शासन था, अतः प्रारंभ में अँग्रेजों की नीति यह रही कि प्रशासन के कार्य में हिंदुओं का सहयोग और राजभक्ति पाने का विशेष प्रयास किया जाए तथा हिंदुओं को अपने अनुकूल कर मुसलमानों की शक्ति को कम किया जाए। इस नीति में अचानक परिवर्तन हुआ 1871 में सर विलियम हंटर की **द इंडियन मुसलमान्स** शीर्षक पुस्तक प्रकाशित होने के बाद से। लेखक ने भारतीय राष्ट्रवाद के बढ़ते हुए खतरे के प्रति ब्रिटिश सरकार को सचेत किया था और सुझाया था कि राष्ट्रीय आंदोलन मुख्य रूप से हिंदुओं का आंदोलन है तथा सरकार इस आंदोलन की शक्ति को कम करने के लिए अब तक उपेक्षित मुसलमानों का प्रति-संतुलन के रूप में प्रयोग कर सकती है। मुसलमानों में अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोग प्रायः नहीं थे क्योंकि मुसलमान अँग्रेजी शिक्षा को अपने धर्म के विरुद्ध समझकर उसका बहिष्कार करते आए थे। सर सैयद अहमद ख़ाँ (1817-1898) ने मुसलमानों को चेतावनी दी कि यदि उन्होंने अँग्रेजी शिक्षा को नहीं अपनाया तो वे हिंदुओं से बहुत पीछे रह जाएँगे। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर सर सैयद ने अलीगढ़ मुस्लिम कॉलिज की स्थापना की। उन्होंने तथा इस कालिज के प्रथम प्रधानाचार्य थियोडोर बेक ने मुसलमानों को सांप्रदायिक आधार पर संगठित करने तथा उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन से अलग रखने में प्रमुख भाग लिया। सैयद अहमद ख़ाँ ने कहा कि कांग्रेस का ध्येय तो बहुसंख्यकों का शासन स्थापित करना है। उसके सफल होने का अर्थ होगा भारत में हिंदुओं का राज। यह भारत के मसुलमानों के लिये घतक होगा। अतः मुसलमानों को ब्रिटिश सरकार का विरोध करने के बजाय उसके साथ सहयोग का मार्ग अपनाना चाहिए और कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति को रोकना चाहिए।

1905 की बंगाल विभाजन की योजना के मूल में भी हिंदुओं और मुसलमानों के बीच विभाजन की खाई खोदकर राष्ट्रीयता की उमड़ती हुई धारा को अवरुद्ध करने की नीति सक्रिय थी। 1906 के अंत में वायसराय के निजी सचिव डनलप स्मिथ तथा थियोडोर बेक के उत्तराधिकारी आर्चिबॉल्ड की प्रेरणा से मुसलमानों का एक शिष्टमंडल

आग़ा ख़ाँ के नेतृत्व में वायसराय लॉर्ड मिंटो से मिला और उसने मुसलमानों के लिए कुछ विशेष रियायतों तथा सांप्रदायिक चुनावों की माँग की। वायसराय ने सहानुभूति दिखाई और सिद्धांत रूप में शिष्टमंडल की माँगों के साथ सहमति प्रकट की। इसी वर्ष दिसंबर 1906 में मुसलिम हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से मुसलिम लीग की स्थापना हुई। मुसलिम सामंती तत्वों द्वारा संचालित यह एक छोटी सी उच्चवर्गीय संस्था थी किंतु इसे अँग्रेजों ने प्रारंभ से ही प्रोत्साहन दिया क्योंकि वे चाहते थे कि मुसलमानों की नई पीढ़ी को कांग्रेस से अलग रखा जाए ताकि मुसलिम हितों के नाम पर कांग्रेस की शक्ति पर अंकुश रखा जा सके। लॉर्ड मिंटो के इस आग्रह पर कि भारतीय मुसलमानों को संतुष्ट करने के नाम पर पृथक निर्वाचनों की माँग को मानना जरूरी है, भारत सचिव लार्ड मॉर्ले को भी अपनी इच्छा और विचारों के विपरीत यह प्रस्ताव मान लेना पड़ा और 1909 के मॉले-मिंटो सुधारों में सांप्रदायिक आधार पर पृथक चुनावों की व्यवस्था का समावेश कर दिया गया। इसके बाद तो हिंदू-मुसलमानों के बीच की खाई बढ़ती ही गई और पृथक चुनावों का परिणाम हुआ पृथक राष्ट्रीयता की विचारधारा और अंत में देश का विभाजन और दो पृथक राष्ट्रों की स्थापना। पंडित नेहरू ने अपनी **डिस्कवरी ऑफ इंडिया** (हिंदुस्तान की कहानी) में सांप्रदायिक चुनावों का उल्लेख करते समय लिखा है:

> "पृथक निर्वाचन से वे समुदाय जो कमजोर थे या पिछड़े हुए थे, और ज्यादा कमजोर हो गए। उससे अलहदगी की भावना को बढ़ावा मिला और राष्ट्रीय एकता की उन्नति में बाधा पड़ी। पृथक निर्वाचन का अर्थ था लोकतंत्र से इंकार। उसने अत्यंत प्रतिक्रियावादी ढंग से नए निहित स्वार्थ पैदा किए, उससे मापदंड नीचे हो गए, और उसने सारे देश के सामने जो वास्तविक समस्याएँ थीं, उनसे ध्यान हटा दिया। ....उन्होंने भारतीय जीवन के प्रत्येक पहलू को भारी आघात पहुँचाया, हर प्रकार की पृथकता की भावनाओं को जन्म दिया और अंत में देश के बँटवारे की ही बात सामने आई।"

मार्ले-मिंटो सुधार : 1909 का परिषद अधिनियम

जिस समय लार्ड कर्जन के बाद लार्ड मिंटो गवर्नर-जनरल बनकर भारत आए और इंग्लैंड में जॉन मॉर्ले ने भारत सविच का पद संभाला, सारे देश में राजनीतिक अशांति धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी। जैसा कि लार्ड मिंटो ने स्वयं कहा था, "ऊपर से शांत दिखने वाली सतह के नीचे, भारी राजनीतिक अशांति का गुबार छिपा था और उसमें से बहुत कुछ नितांत न्यायोचित था।" लॉर्ड मिंटो ने अनुभव किया कि इस राजनीतिक अशांति तथा बढ़ते हुए उग्रवाद और आतंकवाद की धारा को रोकने के लिए यह आवश्यक था कि सरकार कुछ कारगर कदम उठाए। अतः लॉर्ड डफरिन के उदाहरण का

अनुसरण करते हुए उन्होंने भारत सचिव की अनुमति से अपनी परिषद की एक समिति नियुक्त की और उससे और मामलों के साथ-साथ विधान-परिषदों में अधिक प्रतिनिधित्व, बजट पर वाद-विवाद के लिए अधिक समय तथा बजट प्रस्तुत करने और उसमें संशोधन करने की प्रक्रिया आदि विषयों पर विचार करने के लिए कहा।

इस समिति की सहायता से गवर्नर-जनरल लॉर्ड मिंटो और भारत सविच लॉर्ड मार्ले ने वह योजना बनाई जो लगभग तीन वर्ष तक गर्भ में रहने के बाद मॉर्ले-मिंटो सुधारों के नाम से सामने आई। इस योजना के संकल्पन और निर्माण में गोपालकृष्ण गोखले के सलाह-मशविरे से भी पूरा लाभ उठाया गया था। 1908 का अंत होते-होते ब्रिटिश सरकार भी लार्ड मिंटो की इस बात पर सहमत हो गई कि भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का सामना करने के लिए यह नितांत जरूरी था कि विधान-परिषदों में प्रतिनिधिक तत्वों को बढ़ाया जाए और ऐसा करने के लिए शीघ्र कुछ ठोस कदम उठाए जाएँ। 2 नवंबर, 1908 को जारी किए गए राजकीय अध्यादेश में कहा गया था कि अब समय आ गया है जब प्रतिनिधिक संस्थाओं के भारत में क्रमिक विकास के सिद्धांत का बुद्धिमत्तापूर्वक विस्तार किया जाना चाहिए। 17 दिसंबर, 1908 को लार्ड मॉर्ले ने हाउस ऑफ लॉर्ड्स में सुधार-प्रस्तावों की व्याख्या की और बाद में 17 फरवरी, 1909 को, एक और भारतीय परिषद विधेयक–इंडियन कौंसिल्स बिल, 1909 सदन के सामने रखा। 25 मई, 1909 को यह विधेयक पास हो गया और 15 नवंबर, 1909 को राजकीय अनुमोदन मिलने के बाद यही 1909 के भारतीय परिषद अधिनियम के नाम से लागू हुआ।

1909 का अधिनियम : उद्देश्य और धाराएँ

मॉर्ले-मिंटो सुधार अथवा 1909 के भारतीय परिषद अधिनियम का लक्ष्य 1892 के अधिनियम के दोषों को दूर करना तथा भरतीय राजनीति में बढ़ते हुए उग्रवाद तथा क्रांतिकारी राष्ट्रवाद से उत्पन्न स्थिति का सामना करना था। इन सुधारों के मूल में सरकार की यह इच्छा विद्यमान थी कि कांग्रेस के नरम अथवा उदारवादी नेताओं को प्रसन्न कर दिया जाए और सांप्रदायिकता की भावना को दृढ़ करके उग्रवाद तथा क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की शक्तियों का दमन कर दिया जाए। इन सुधार योजनाओं का यह उद्देश्य कदापि नहीं था कि भारत में उत्तरदायी अथवा प्रतिनिधिक व्यवस्था प्रारंभ की जाए। वस्तुत: मॉर्ले-मिंटो भारत में उत्तरदायी शासन असंभव और अनुपयुक्त समझते थे। वे तो भारतीयों का प्रशासन में केवल सहयोग मात्र चाहते थे।

कहने को तो 1909 के भारतीय परिषद अधिनियम द्वारा किए गए परिवर्तन प्रगतिशील थे और कांग्रेस के उदारवादी नेताओं ने आरंभ में उनका स्वागत भी किया, किंतु, वस्तुत: अधिनियम का मूल स्वर प्रतिगामी था। शासन के कार्य में भारतीयों के

सहयोग की जिस नीति का 1861 में प्रारंभ किया गया था, 1909 के अधिनियम ने उसे केवल जरा सा और आगे बढ़ाया। देश में प्रतिनिधिक, उत्तरदायी अथवा संसदीय शासन प्रणाली के प्रवर्तन की ओर इस अधिनियम में भी कोई ध्यान नहीं दिया गया तथा केंद्रीय अथवा प्रांतीय विधान परिषदों का कार्यपालिका की गतिविधियों पर नियंत्रण स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। वस्तुतः विधायन के क्षेत्र में अब भी कार्यांग का ही नियंत्रण बना रहा तथा भारतीय प्रशासन पूर्णतया ब्रिटिश सरकार के प्रति ही उत्तरदायी रहा। विधान-परिषदों के गैर-सरकारी सदस्य चाहे कुछ भी कहें उससे सरकार की मूल नीतियों में कोई परिवर्तन होने वाला नहीं था। जैसा कि मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में बाद में कहा गया था मिंटो-मॉर्ले "सुधार भारत की राजनीतिक समस्याओं का हल नहीं थे क्योंकि उनके अंतर्गत स्थापित परिषदें उत्तरदायी नहीं थीं और उत्तरदायित्व ही लोकप्रिय सरकार की जान है।" सुधारों के जनकों-मिंटो और मॉर्ले-ने स्वयं भी स्पष्ट रूप से कहा था कि उनका भारत में उत्तरदायी शासन अथवा संसदीय संस्थाओं की स्थापना करने का तनिक भी विचार नहीं था। 17 दिसंबर, 1908 को हाउस ऑफ कॉमंस में मॉर्ले ने यहाँ तक कह दिया था कि "यदि इन सुधारों से किसी तरह भी भारत में संसदीय व्यवस्था स्थापित होने का डर हो तो कम से कम मैं उससे कोई नाता रखने के लिए तैयार नहीं हूँ।"

मॉर्ले-मिंटो सुधारों का सबसे बड़ा दोष था पृथक् अथवा सांप्रदायिक निर्वाचन पद्धति की सृष्टि जिसके अनुसार विभिन्न हितों एवं वर्गों को पृथक निर्वाचन का अधिकार दिया ग।या था और मुसलमानों, वाणिज्य-सघों, जमींदारों आदि के लिए स्थान सुरक्षित कर दिए थे। मुसलमानों को पृथक प्रतिनिधित्व प्रदान करते समय जाति की आनुपातिक संख्या का ध्यान रखा जाना था। अधिनियम के द्वारा जिस सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की प्रथा प्रारंभ हुई उसने भारत के भावी सार्वजनिक जीवन को विषाक्त कर दिया, पृथकता की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया और अंत में भारत-विभाजन की माँग के लिए राह तैयार की। 1857 की क्रांति के दमन के बाद, धर्मनिरपेक्ष भारतीय राष्ट्रीयता को यह सबसे बड़े धक्का था; अँग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति की सबसे बड़ी विजय। स्वयं भारत-सचिव लॉर्ड मॉर्ले ने वायसराय मिंटो को एक पत्र में ठीक ही लिखा था :

> "याद रखना कि पृथक निर्वाचन क्षेत्र बनाकर हम ऐसे घातक विष के बीज बो रहे हैं जिनकी फसल बड़ी कड़वी होगी।"

मॉर्ले-मिंटो योजना 1910 में लागू हुई। उसी वर्ष लॉर्ड हार्डिंज भारत के वायसराय बन कर आये। हार्डिंज ने कांग्रेस के साथ उदारता की नीति अपनाई और सुधारों को कार्यान्वित करने की भरसक चेष्टा की किंतु, मॉर्ले-मिंटो सुधारों से उत्तरदायी शासन की स्थापना नहीं हुई। मताधिकार बहुत सीमित था और विधान परिषदें प्रभावी न हो सकीं क्योंकि जैसा हम देख चुके हैं उनके अधिकारों पर बहुत से प्रतिबंध लगे थे और उन्हें कार्यकारिणी पर नियंत्रण रखने का अधिकार नहीं था। वास्तविक शक्ति सरकारी

सदस्यों के हाथों में ही बनी रही तथा उनके और गैर-सरकारी सदस्यों के बीच खाई कायम रही।

मॉर्ले-मिंटो सुधारों के द्वारा स्थापित अस्थायी संतुलन अधिक दिन नहीं चल सका। लॉर्ड चेम्सफोर्ड के शब्दों में वह संतुलन ऐसा था ही नहीं जो अधिक काल तक चल सकता। पढ़े-लिखे भारतीयों की अपने देश के शासन में अधिक सक्रिय भाग लेने की माँग हर साल तीव्र से तीव्रतर होती जा रही थी और 1909 के सुधारों द्वारा स्थापित 'सांविधानिक निरंकुशतंत्र' उनका समाधान नहीं कर सकता था।

1911 में ब्रिटिश सम्राट जॉर्ज पंचम भारत आए और उन्होंने दिल्ली दरबार में बंगाल के विभाजन को रद्द करने की और राजधानी कलकत्ते से दिल्ली बदलने की घोषणा की। नए वायसराय लार्ड हार्डिंज भी प्रांतीय स्वायत्तता के हामी थे। इस सबसे देश में कुछ आशा और प्रसन्नता की एक लहर सी आई किंतु वह अधिक दिन न टिक सकी। तत्कालीन भारत- सविच लॉर्ड क्रीव ने 1912 में स्पष्ट ऐलान किया कि उनका भारत में किसी प्रकार का स्वशासन स्थापित करने का कोई इरादा नहीं है। इस ऐलान के फलस्वरूप आतंकवादी फिर जोर पकड़ने लगे तथा क्रांतिकारी आंदोलनों में नई गति आ गई। सरकार के दमनचक्र की क्रूरता भी बढ़ी किंतु क्रांति का स्वर दबने के बजाय और तेज होता गया।

4

प्रथम महायुद्ध और होम रूल आंदोलन

1914 – 1919

"यदि भारत के लोग सम्राट की परम तथा सतत सत्ता के अधीन स्वशासन के मार्ग पर आगे बढ़ना चाहते हैं, तो उन्हें व्यक्तिगत रूप से ही नहीं बल्कि सामूहिक रूप से यह दिखा देना चाहिए कि उनमें स्वशासन के लिए अपेक्षित सारे गुण मौजूद हैं.... वे शिक्षित और राजनीति-सजग निर्वाचकों का निर्माण करें, विरोधी विचारों की रक्षा करें तथा उन्हें सहन करना सीखें, अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा करें, स्वाशासन की कला में निहित खतरों से जूझने के लिए तैयार रहें और कोई भी चुनौती उपस्थित होने पर सभी आवश्यक उपायों द्वारा व्यवस्था बनाए रखने के लिए कटिबद्ध रहें।"

–एडविन मोंटेग्यू

1914 में कई महत्वपूर्ण घटनाएँ हुईं। प्रथम महायुद्ध प्रारंभ हो गया। लोकमान्य तिलक बर्मा की माँडले जेल से छूटकर भारत वापस आए। श्रीमती एनी बेसेंट, जो एक आयरिश महिला थीं, भारतीय राजनीति में उतर आईं। अगले ही वर्ष लोकमान्य तिलक भी फिर राजनीति में कूद पड़े। जैसे-जैसे महायुद्ध की ज्वाला फैलती गई, भारतवासियों के दिलों में नई राजनीतिक आकांक्षाएँ जन्मीं और एक नई चेतना ने बल पकड़ा। इस सारे वातावरण की अवहेलना करना किसी भी सरकार के लिए आसान नहीं था। भारत के प्रबुद्ध जनमत ने जोरों के साथ यह आवाज उठाई कि ब्रिटिश सरकार भारत में भी स्वतंत्रता और आत्मनिर्णय के उन्हीं सिद्धान्तों को लागू करे जिनके लिए लड़ने का मित्र-देश अन्यत्र दावा कर रहे थे।

गोखले, दादाभाई नौरोजी तथा फिरोजशाह मेहता की मृत्यु के बाद, काँग्रेस के राष्ट्रीय आंदोलन की बागडोर धीरे-धीरे नरम दल के हाथों से खिसक गई और 1916 में ही लोकमान्य तिलक और उनके गरम दल ने कांग्रेस पर कब्जा कर लिया। उसी वर्ष में आयरलैंड के होमरूल आंदोलन की प्रेरणा से, लोकमान्य तिलक और श्रीमती एनी बेसेंट ने भारत में होमरूल आंदोलन का संगठन किया। यह आंदोलन एक सांविधानिक संघर्ष था और इसका लक्ष्य था ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत भारतीयों के लिए स्वशासन प्राप्त

करना। इस आंदोलन ने पहली बार 'स्वशासन' और 'राष्ट्रीय शिक्षा' का नारा बुलंद किया। आंदोलन शीघ्र ही सारे देश में फैल गया। सरकार ने इसे कुचल डालने के लिए दमन-चक्र का पूरा प्रयोग किया; किंतु जून, 1917 में श्रीमती एनी बेसेंट की गिरफ्तारी से आंदोलन दावानल-सा भड़क उठा। सरकार शीघ्र ही श्रीमती एनी बेसेंट को रिहा करने पर मजबूर हो गई और उनकी सेवाओं के लिए, 1917 में ही कांग्रेस ने उन्हें अपना अध्यक्ष चुन लिया। यद्यपि जैसे-जैसे महायुद्ध की समाप्ति के दिन निकट आते गए, आंदोलन क्षीण पड़ता गया और अंत में मुरझा गया, किंतु राष्ट्रीयता के आंदोलन को जीवित रखने तथा भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में एक नई तकनीक जोड़ने में होमरूल आंदोलन का अपना विशिष्ट स्थान है।

होमरूल आंदोलन के पीछे संभवत: यह विश्वास था कि महायुद्ध समाप्त होने पर भारत को स्वशासन अवश्य प्राप्त हो जाएगा। कांग्रेस ने जॉर्ज पंचम का पूरा स्वागत किया था तथा महायुद्ध में भी सरकार का साथ दिया था। युद्ध जीतने में भारत ने ब्रिटेन की भारी सहायता की थी तथा भारतीय सेना की टुकड़ियों की वीरता, अनुशासन और युद्ध-कौशल के लिए सब जगह प्रशंसा की गई थी। ब्रिटेन ने बार-बार यह ऐलान किया था कि वह संसार में लोकतंत्र की रक्षा के लिए तथा पराधीन राष्ट्रों को 'आत्मनिर्णय' का अधिकार देने के लिए युद्ध कर रहा है। किंतु श्रीमती बेसेंट ने स्पष्ट कहा था कि भारत युद्धकालीन राजभक्ति का इनाम नहीं माँगता, वह अपने बेटों के रक्त और बेटियों के आँसुओं के बदले में स्वतंत्रता की किश्तों का सौदा नहीं करता। वह तो एक राष्ट्र होने के नाते अपने अधिकार चाहता है और साम्राज्य की प्रजा की विभिन्न जातियों के बीच न्याय की माँग करता है।

बीसवीं सदी के दूसरे दशक में एक अन्य महत्वपूर्ण घटना घटी और वह थी मुसलिम समाज का राष्ट्रीय आंदोलन की मूल धारा के निकट पहुँचना। मुसलिम लीग के प्रारंभिक वर्षों में अलीगढ़ विश्वविद्यालय के अर्द्ध-सामंती और पृथकतावादी राजनीतिज्ञों का उस पर नियंत्रण रहा था। किंतु 1912 के बाद शिक्षित मुसलमान युवकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन होने लगा और वे कांग्रेस की विचारधारा के निकट आए। मुसलमानों में राष्ट्रवाद की भावना बढ़ने के अनेक कारण थे जैसे तुर्की के प्रति ब्रिटिश सरकार की शत्रुतापूर्ण नीति, तुर्की-इटली युद्ध और बाल्कन युद्धों में इंग्लैंड का तुर्की के विरुद्ध रहना तथा प्रथम महायुद्ध में भी एक ओर इंग्लैंड, फ्रांस और रूस का संयुक्त मोर्चा तथा दूसरी ओर जर्मनी और तुर्की का पक्ष, नए वायसराय लार्ड हार्डिंज का कांग्रेस के प्रति मेलजोल का व्यवहार और मौलाना अबुल कलाम आजाद, अली बंधु, मोहम्मद अली ज़िन्ना तथा मौलाना शिबली जैसे नए नेताओं का प्रभाव।

कांग्रेस ने, दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व में हुए, अपने 1906 के कलकत्ता अधिवेशन में माँग की थी कि भारत में वैसी ही स्वशासन की व्यवस्था लागू की जाए जैसी कि अन्य स्वशासित ब्रिटिश उपनिवेशों में थी। दादाभाई नौरोजी ने कहा था कि स्व-शासन

अथवा स्वराज ही भारत की आर्थिक समस्याओं और गरीबी का 'एकमात्र और प्रमुख उपचार' है। 1913 के अपने लखनऊ अधिवेशन में मुसलिम लीग ने भी स्व-शासन का राष्ट्रीय लक्ष्य स्वीकार किया था और कांग्रेस के साथ सहयोग की आवश्यकता पर पर बल दिया था। मोहम्मद अली जिन्ना (1876-1949) मुसलिम लीग की सांप्रदायिक राजनीति के कारण अब तक उससे अलग रहे थे। 1913 का लखनऊ अधिवेशन पहला लीग अधिवेशन था जिसमें जिन्ना ने भाग लिया। उसी वर्ष कांग्रेस के कराची अधिवेशन में भी जिन्ना उपस्थित थे। कांग्रेस ने मुसलिम लीग की नीति में परिवर्तन का स्वागत किया और स्वशासन का लक्ष्य स्वीकारने पर लीग को हार्दिक बधाई दी। 1914 में कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में की गई प्रांतीय स्वशासन की तथा भारत में और भारत से बाहर भारतीयों के विरुद्ध अन्यायपूर्ण भेद-भाव को समाप्त करने की माँग से यह स्पष्ट था कि प्रथम महायुद्ध प्रारंभ होने से पहले ही कांग्रेस और मुसलिम लीग दोनों का समान लक्ष्य हो गया था और यह लक्ष्य था ब्रिटिश साम्राज्य के अंदर स्वशासन की प्राप्ति। श्रीमती एनी बेसेंट और लोकमान्य तिलक के होमरूल आंदोलन ने स्वशासन की माँग को और भी बलवती बना दिया था। 1915 में जिन्ना के प्रयत्नों से कांग्रेस और मुसलिम लीग दोनों के अधिवेशन बंबई में हुए। दोनों संगठनों ने तय किया कि वे आपसी सहयोग के द्वारा देश में सांविधानिक सुधारों की योजना बनाएँगे और सरकार से आग्रह करेंगे कि उसे मंजूर करे और लागू करे। कांग्रेस और लीग के द्वारा नियुक्त समितियों ने मिलकर एक संयुक्त योजना बनाई जो 1916 में कांग्रेस और लीग दोनों के लखनऊ अधिवेशन में बड़े उत्साह के साथ स्वीकार कर ली गई। यही 'कांग्रेस-लीग योजना' या 'लखनऊ समझौता' आदि नामों से भी जानी जाती है। इस समझौते में पहली बार कांग्रेस ने सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को मान्यता दे दी जो बाद में बड़ी भारी भूल सिद्ध हुई। लखनऊ समझौते में भारत के लिए स्वशासित डोमिनियनों की तरह की जिस प्रस्थिति की माँग की गई थी, उसकी ओर तो सरकार ने कुछ ध्यान नहीं दिया किंतु कांग्रेस ने मुसलमानों को प्रतिनिधित्व के क्षेत्र में जो रियायतें दी थीं उन्हें 1919 में मोंटफोर्ड सुधारों का आधार मान लिया गया।

1917 में जब श्रीमती एनी बेसेंट और लोकमान्य तिलक का होमरूल आंदोलन पूरे जोरों पर था, ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयट जार्ज ने भारतीय जनमत को साँत्वना देने के विचार से एडविन मोंटेग्यू को भारत-सचिव नियुक्त किया। मोंटेग्यू को भारत की राष्ट्रीय भावनाओं का समर्थक समझा जाता था क्योंकि उन्होंने कुछ दिन पहले ब्रिटिश संसद में कहा था कि शिक्षित भारतीयों की 'माँग' सचमुच उनके 'अधिकार' हैं तथा उन्हें उत्तरदायित्व सँभालने और आत्मनिर्णय तथा आत्म-निर्माण का अवसर दिया जाना चाहिए। भारत-सचिव बनने के बाद, 20 अगस्त, 1917 को हाउस ऑफ कॉमंस में मांटेग्यू ने भारत के संबंध में ब्रिटिश सरकार की भावी नीति की घोषणा की जिसमें कहा गया था कि "भारतीय शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का संपर्क उत्तरोत्तर बढ़ाया जाएगा तथा भारत को ब्रिटिश साम्राज्य का अभिन्न अंग मानते हुए, उसमें धीरे-धीरे उत्तरदायी

शासन की स्थापना करने के उद्देश्य से स्वशासन की संस्थाओं का क्रमिक विकास किया जाएगा।" घोषणा में विश्वास दिलाया गया था कि निर्दिष्ट दिशा में यथाशीघ्र कोई ठोस कदम उठाया जाएगा किंतु साथ ही यह भी कह दिया गया था कि भारतीयों के हित और उन्नति का भार ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार के ही ऊपर है और वही इस बात की निर्णायक होगी कि कब और कितना कदम आगे बढ़ाया जाए।

वस्तुतः लॉर्ड मोंटेग्यू की 20 अगस्त, 1917 की घोषणा का तथा मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार योजना का अथवा इन दोनों को मूर्त रूप देने वाले 1919 के अधिनियम का ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में अथवा स्वयं लॉर्ड मोंटेग्यू की दृष्टि में यह उद्देश्य कदापि नहीं था कि भारत को कभी सुदूर भविष्य में भी स्वशासन अथवा स्वराज का अधिकार सौंपा जाए। अगस्त, 1917 की घोषणा से केवल एक माह पहले लॉर्ड मोंटेग्यू ने प्रधान मंत्री लॉयड जार्ज को लिखे गए एक पत्र में भारतीय स्वशासन के प्रश्न पर अपने विचारों की एक रूपरेखा दी थी। उन्होंने कहा था :

> "मैंने अपना यह विश्वास स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है कि भारत के लिए गृह शासन (होम रूल) संभव नहीं है। मैंने कहा कि भारत में हमारा लक्ष्य विशाल स्वशासित प्रांतों और प्रदेशों के एक संघ की स्थापना होना चाहिए ताकि भारत की जनता के सामने तथा भारत के भाग्य के नियंताओं के सामने सरकारी नीति का रुख स्पष्ट किया जा सके। यह आवश्यक है कि इस लक्ष्य की दिशा में कब कितनी प्रगति हो इसका निर्णय और नियंत्रण सरकार के हाथों में रहे। लक्ष्य तक पहुँचने में बहुत से वर्ष और बहुत सी पीढ़ियाँ लग जाएँगी और इस बीच विभिन्न प्रांतों में प्रगति की रफ्तार भिन्न होगी। मैंने कहा है कि हम अपने लक्ष्य की घोषणा कर दें और अपनी शुभेच्छा का विश्वास दिलाने के लिए इस लक्ष्य की ओर बढ़ने वाले कदमों की एक किश्त की भी घोषणा कर दें। किंतु, अगर मैं आपकी सरकार का सदस्य बनता हूँ तो मेरा ऐसा कोई विचार नहीं कि जल्दबाजी में कोई भी कदम उठाया जाए। अच्छी तरह जाँच-पड़ताल किए बिना, भारत सरकार की महान इमारत में किसी भी परिवर्तन का सुझाव देने की मैं सपने में भी नहीं सोच सकता।"

लोकमान्य तिलक ने 1919 के सुधारों को 'असंतोषप्रद और निराशाजनक, एक बिना सूरज का सवेरा' बताया और श्रीमती एनी बेसेंट ने कहा कि 'न तो इंग्लैंड को यह शोभा देता है कि ऐसे सुधार प्रस्तुत किए जाएँ और न यह भारत के सम्मान के अनुकूल है कि वह इन्हें स्वीकार करे।' 1919 के सुधारों के प्रश्न को लेकर कांग्रेस में फूट पड़ गई। 1918 में ही कुछ लोगों ने सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी के नेतृत्व में कांग्रेस को छोड़कर राष्ट्रीय उदारवादी संघ (नेशनल लिबरल फेडरेशन) की स्थापना कर ली थी। उदारवादी संघ ने 1919 के सुधारों का स्वागत किया किंतु कांग्रेस के 1919 के अमृतसर अधिवेशन ने सुधारों को 'अपर्याप्त, असंतोषप्रद और निराशाजनक' बताया।

ध्यान देने की एक बात यह है कि 1919 के अधिनियम के सांविधानिक सुधार वस्तुतः 1921 में ही लागू हुए और 1919 से 1921 और उसके बाद का काल भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की नई चेतना और गति की दृष्टि से भी विशेष महत्व रखता है तथा इन सुधारों की असफलता का भी सबसे प्रमुख कारण देश का तत्कालीन राजनीतिक वातावरण और 1919 और 1921 के बीच हुई जलियाँवाला कांड जैसी घटनाओं का क्रम था जिसका वर्णन-विवेचन अगले अध्याय में प्रस्तुत है।

5

गाँधी–युग का प्रारंभ

जलियाँवाला, ख़िलाफ़त और असहयोग आंदोलन

1919 1922

"गाँधीजी ताजी हवा के उस तेज झोंके की तरह आए जिसने हमारे लिए खुली हवा में साँस लेना संभव बनाया। वे प्रकाश की उस किरण की तरह आए जो अंधकार में पैठ गई और जिसने हमारी आँखों के सामने से पर्दे को हटा दिया। वे उस बवंडर की तरह आए जिसने बहुत कुछ को, विशेषकर श्रमिकों के दिमाग को उलट–पलट दिया।"

– जवाहरलाल नेहरू

मोहनदास करमचंद गाँधी (1869–1948) गोपालकृष्ण गोखले की प्रेरणा से, प्रथम महायुद्ध के दौरान, जनवरी, 1915 में दक्षिण अफ्रीका से भारत वापस आए। गोखले के विचारों ने गाँधीजी को बहुत प्रभावित किया। वे गोखले को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। अतः शुरू में गाँधीजी गोखले के अनुयायी और राजभक्त माने जाते थे। सरकार के साथ सहयोग की नीति में उनका दृढ़ विश्वास था। महायुद्ध के बीच गाँधीजी ने युद्ध प्रयासों में अँग्रेजी सरकार की पूरी सहायता की और इसके लिए सरकार ने उन्हें केसरे–हिंद स्वर्ण–पदक से विभूषित किया था। किंतु, भारतीय राजनीति मंच पर सक्रिय रूप से गाँधीजी ने प्रवेश किया 1919 में रौलट एक्ट के प्रश्न को लेकर।

रौलट एक्ट और जलियाँवाला कांड

गरीबी, बीमारी, नौकरशाही के दमन–चक्र, अध्यादेश–राज और युद्धकाल में धन एकत्र करने और सिपाहियों को भरती करने में सरकार द्वारा प्रयुक्त कठोरता के कारण भारतीय जनता अँग्रेजी शासन से बहुत असंतुष्ट हो गई थी। उग्र विचारों और क्रांतिकारियों का प्रभाव बढ़ना स्वाभाविक था। सरकार को भी इसका भान था और डर था कि यदि क्रांतिकारियों

की शक्ति को समय रहते कुचला न गया तो वे भारत में अँग्रेजी राज्य के लिए घातक खतरा सिद्ध हो सकते हैं। युद्ध के दौरान, 1917 में ही जास्टिस रौलट के सभापतित्व में एक समिति की नियुक्ति की गई थी। सीमित का काम था भारत में क्रांतिकारी 'षड्यंत्रों' के बारे में जाँच करना तथा उनका सामना करने के लिए आवश्यक कानून बनाने के सुझाव देना। समिति के सुझावों के आधार पर फरवरी, 1919 में दो विधेयक विधान परिषद् के सामने रखे गए। देश-व्यापी असंतोष और परिषद् के सभी भारतीय सदस्यों के विरोध के बावजूद 17 मार्च, 1919 को इनमें से एक विधेयक पारित कर दिया गया जो रौलट एक्ट अथवा रौलट अधिनियम के नाम से पुकारा जाता है। इस अधिनियम के अंतर्गत देश में आंव्तरिक शांति बनाए रखने के बहाने, अँग्रेज नौकरशाही जिसको चाहे, जब तक चाहे, बिना कोई मुकदमा आदि चलाए, जेल में डाले रख सकती थी। इस प्रकार यह अधिनियम जनता की साधारण स्वतंत्रताओं पर कुठाराघात तथा अँग्रेज सरकार की बर्बर और स्वेच्छाचारी नीति का स्पष्ट प्रमाण था। रौलट विधेयकों (रौलट बिल्स्) के विधान परिषद में प्रस्तुत होते ही सारे देश में विरोध की लहर दौड़ गई थी और प्रदर्शन प्रारंभ हो गए थे किंतु रौलट एक्ट ने राष्ट्रीय आंदोलन की आग में घी डालने का काम किया और 'काला कानून' कहकर देश के सभी वर्गों ने इसका जोरदार विरोध किया।

सरकार की दमन-नीति और रौलट एक्ट ने गाँधीजी को राजभक्त से विद्रोही बना दिया। गाँधीजी ने जनता से अपील की कि 6 अप्रैल को देश भर में हड़ताल रखी जाए और इस दिन को रौलट एक्ट पास करने के अन्याय के विरुद्ध मातम के दिन के रूप में मनाया जाए। हिंसा की छोटी-मोटी घटनाओं के बहाने पंजाब और दिल्ली में गाँधीजी का प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया। गाँधीजी सरकारी आज्ञा की अवहेलना करते हुए दिल्ली की ओर चले किंतु 9 अप्रैल को उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। गाँधीजी की गिरफ्तारी से देश भर में आक्रोश फैल गया। गाँधीजी को तो बंबई ले जाकर छोड़ दिया गया किंतु आग भड़क चुकी थी और उधर दमन-चक्र की गति भी तेज होती जा रही थी।

पंजाब के लोकप्रिय नेताओं – डा॰ किचलू और डा॰ सत्यपाल – की गिरफ्तारी के प्रति विरोध प्रदर्शित करने के लिए 10 अप्रैल को निकाले गए एक शांतिपूर्ण जुलूस पर गोली चलाकर कुछ निहत्थे लोगों को मार डाला गया। स्थिति काबू से बाहर हो जाने पर 12 अप्रैल को नगर का शासन सेना के हाथों में सौंप दिया गया। और फिर वैसाखी के दिन 13 अप्रैल, 1919 को उस भयंकर त्रासदी का समय आया जब अमृतसर के जलियाँवाला बाग में कठोर से कठोर मानव के हृदय को दहला देने वाला निहत्थे पुरुषों, औरतों और बच्चों का, ऐसा हत्याकांड हुआ जिसने राष्ट्र की सोयी आत्मा को झकझोर डाला और राष्ट्रीय आंदोलन की दिशा ही बदल दी। 10 अप्रैल को हुए गोलीकांड और नेताओं की गिरफ्तारी के विरोध में जलियाँवाला बाग में शांतिपूर्ण सभा का आयोजन किया गया था। सभा का मैदान चारों ओर से मकानों की ऊँची-ऊँची दीवारों से घिरा था, और दो-चार फीट के दरवाजों के अतिरिक्त मैदान में आने-जाने के लिए केवल एक $7\frac{1}{2}$ फीट चौड़ा

सँकरा-सा रास्ता था। जब सभा चल रही थी तभी सेना के कमांडर जनरल डायर की आज्ञा से इस सँकरे रास्ते पर फौज लगा दी गई और बिना किसी चेतावनी के भीड़ पर धड़ाधड़ गोली चलाना आरंभ कर दिया गया। कहते हैं कि गोली चलाना तभी बंद हुआ जब सारा बारूद ही समाप्त हो गया। घायलों को एक-एक बूंद पानी के लिए तरसता हुआ छोड़ दिया गया और जो जिंदा बच रहे थे उनमें से भी कितने ही डाक्टरी सहायता न मिलने के कारण, रात में तड़प-तड़प कर मर गए। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार दस मिनट तक चलाई गई गोलियों से 379 व्यक्ति मारे गए तथा 1200 घायल हुए। वस्तुतः मृत और घायलों की संख्या बहुत अधिक थी क्योंकि मैदान से भागने के लिए कोई रास्ता न था। जिन लोगों ने पेड़ों पर या चारों ओर की दीवारों पर चढ़ने का प्रयास किया उन्हें भी गोली मार कर नीचे गिरा दिया गया। आज भी दीवारों पर गोलियों के निशान दिखाई देते हैं और अत्याचार तथा बलिदान की कहानी कहते हैं। दीनबंधु सी॰एफ॰ एन्ड्रूज ने जलियाँवाला कांड को "जानबूझ कर की गई क्रूर हत्या" की संज्ञा दी। ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमंस में एक सदस्य ने कहा था कि ऐसी बर्बरता की मिसाल संसार में कहीं भी मिलना कठिन है। जलियाँवाला बाग के नृशंस हत्याकांड के बाद भी अमृतसर में आतंक का शासन रहा। आए दिन, बात की बात में, वक्त-बेवक्त तनिक से भी संदेह पर किसी को भी पकड़कर कोड़ों से खुले आम पीट दिया जाता, कभी भी गोली चला दी जाती और यहाँ तक कि कहीं भी बम तक गिरा दिए जाते। नगर के कुछ भागों में तो भारतीयों के लिए यह आदेश था कि वे केवल चौपायों की तरह दोनों हाथों और दोनों पैरों के बल रेंगते हुए ही कहीं आ जा सकते हैं। सीधे खड़े होकर चलना उनके लिए घोर अपराध था।

जैसे-जैसे, धीरे-धीरे, इन घटनाओं के समाचार देश के अन्य भागों में देशवासियों को मालूम हुए, उनके मन दुःख, ग्लानि और अदम्य आक्रोश की भावना से भरने लगे। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'सर' का खिताब वापिस कर दिया। वायसराय की कौंसिल के एक सदस्य शंकरन नायर ने भी त्यागपत्र दे दिया। चारों ओर से दबाव पड़ने पर छह मास बाद अक्तूबर 1919 में जलियाँवाला कांड की जाँच करने के लिए हंटर समिति की स्थापना की गई। समिति की रिपोर्ट मार्च, 1920 में सामने आई किंतु समिति ने लीपा-पोती के सिवाय कुछ नहीं किया। समिति के अनुसार जनरल डायर ने अपने कर्तव्य को गलत समझा और तर्कसंगत आवश्यकता से अधिक बल प्रयोग किया किंतु उसने ईमानदारी के साथ जो उचित समझा वही किया था। हंटर कमेटी के सामने कर्नल जॉनसन ने अपने बयान में कहा कि, "अगर मौका मिले तो मैं दुबारा भी ऐसा ही करूँगा।" ब्रिटिश हाउस ऑफ लार्ड्स में जनरल डायर की प्रशंसा में भाषण दिए गए, उसे अँग्रेजी साम्राज्य का पोषक माना गया तथा 200 पौंड की राशि और सम्मानार्थ एक तलवार भेंट की गई। जनरल डायर ने स्वयं स्वीकारा भी कि उसने गोली चलवाने से पहले भीड़ को कोई चेतावनी नहीं दी थी तथा उसका उद्देश्य गोली चलाकर केवल भीड़ को तितर-बितर करना नहीं था, वह तो यह चाहता था कि इस हत्याकांड के बाद सारे पंजाब में और सारे देश में एक ऐसा आतंक फैल

जाए और कुछ ऐसा डर बैठ जाए कि भविष्य में ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो।

यह ध्यान देने की बात है कि भीषण जलियाँवाला कांड के बाद भी गाँधीजी ने सहयोग का रास्ता अपनाए रखने का प्रयास किया और उनके प्रयत्नों से ही दिसंबर, 1919 के कांग्रेस अधिवेशन में एक ऐसा प्रस्ताव पास किया गया जिसके फलस्वरूप 1919 के सांविधानिक सुधारों को 'अनुपयुक्त, असंतोषप्रद और निराशाजनक' मानते हुए भी शीघ्र से शीघ्र उत्तरदायी शासन की स्थापना का लक्ष्य प्राप्त करनें के उद्देश्य से, इन सुधारों को क्रियान्वित करने के लिए कांग्रेस तैयार हो गई। साथ ही कांग्रेस ने जलियाँवाला कांड की जाँच के लिए अपनी एक अलग समिति बनाई थी। समिति के अध्यक्ष पंडित मदनमोहन मालवीय थे और सदस्यों में पंडित मोतीलाल नेहरू और गाँधीजी भी थे। समिति इस नतीजे पर पहुँची कि हंटर कमेटी की रिपोर्ट जनमत को धोखा देने और अपराधी अफसरों को बचाने की कोशिश थी। सच यह था कि हंटर कमेटी के अंदाजे से कहीं ज्यादा लोग मरे थे और जनरल डायर निहत्थे और निर्दोष बच्चों और बड़ों की जान-बूझकर ऐसी क्रूर और अमानुषिक हत्या करने का दोषी था जिसकी कायरता, पाशविकता और हृदयहीनता की मिसाल आज के युग में मिलनी कठिन होगी। समिति ने मारे गए अथवा घायल हुए लोगों के परिवारों को प्रतिकर देने तथा दोषी अफसरों को दंड देने की माँग की, किंतु सरकार ने इस सब माँगों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। सरकार के रवैये की बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। राष्ट्रीय आंदोलन का सारा रुख और रूप ही बदल गया। गाँधीजी का भी अँग्रेजों की न्यायप्रियता पर से विश्वास उठ गया, ब्रिटिश सरकार के प्रति उनके दृष्टिकोण में मूलभूत परिवर्तन आया और इसके बाद वे बराबर सहयोग से असहयोग की ओर बढ़ते गए। सरकार के विरुद्ध क्षोभ की व्यापकता को देखते हुए यह जरूरी समझा गया कि कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया जाए। विशेष अधिवेशन लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में सितंबर, 1920 में कलकत्ता में हुआ। इस अधिवेशन में कांग्रेस ने पहली बार भारत में विदेशी शासन के विरुद्ध सीधी कार्यवाही करने, विधान-परिषदों का बहिष्कार करने तथा असहयोग और सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ करने की बात तय की। एक प्रस्ताव द्वारा पंजाब में मार्शल लॉ प्रशासन के अत्याचारों की भर्त्सना की गई और कहा गया कि भारत सरकार तथा ब्रिटिश सरकार दोनों ही बेगुनाह और असहाय लोगों की रक्षा करने में तथा असभ्य और पाशविक बर्ताव के अपराधी अफसरों को सजा देने में नितांत असमर्थ सिद्ध हुई हैं। प्रस्ताव में आगे कहा गया था कि राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा करने और जलियाँवाला कांड जैसी घटनाओं की पुनरावृत्ति को रोकने का एकमात्र साधन स्वराज की स्थापना है और भारतवासियों के लिए इसके सिवाय अब और कोई रास्ता नहीं बचा है कि वे विदेशी शासकों के प्रति गाँधीजी द्वारा प्रारंभ की गई अहिंसात्मक असहयोग की नीति का अधिकाधिक सहारा लें।

ख़िलाफ़त आंदोलन

कलकत्ता अधिवेशन के निर्णय के पीछे जलियाँवाला कांड के अतिरिक्त जो अन्य

प्रमुख कारण था वह था 'ख़िलाफ़त' का प्रश्न। भारत के मुसलमान तुर्की के सुलतान को इसलाम का 'ख़लीफ़ा' मानते थे। महायुद्ध में तुर्की मित्र देशों के विरुद्ध लड़ा था। युद्धकाल में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने वचन दिया था कि तुर्की साम्राज्य का किसी प्रकार अहित या विघटन नहीं किया जाएगा। लेकिन युद्ध समाप्त होते ही ब्रिटेन ने तुर्की साम्राज्य का विघटन करने का निश्चय कर लिया और सुलतान की मान-हानि की। इससे मुसलमानों का भी ब्रिटिश सरकार की नेकनीयती पर से विश्वास उठ गया। कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के इस विश्वासघात का विरोध किया और मुसलमानों के साथ पूरी सहानुभूति व्यक्त की, यहाँ तक कि नवंबर, 1919 में दिल्ली में हुए अखिल भारतीय ख़िलाफ़त सम्मेलन का सभापतित्व भी गाँधीजी ने किया। गाँधीजी समझते थे कि इस प्रकार ख़िलाफ़त आंदोलन में यदि हिंदुओं ने मुसलमानों का साथ दिया तो मुसलमान भी राष्ट्रीय आंदोलन में कांग्रेस का साथ देंगे तथा हिंदू-मुसलिम एकता की भावना को बढ़ावा मिलेगा।

मई, 1920 में सीवर्स की संधि की शर्तों का पता चला जिससे तुर्की के विघटन और विभाजन की बात पक्की हो गई। तुर्की साम्राज्य के अरब प्रांत ब्रिटेन और फ्रांस के बीच प्रादेशाधीन (मेनडेट) क्षेत्रों के रूप में बाँट दिए जाने थे और सुलतान मित्र देशों के उच्चयुक्त का बंदी-सा बन जाना था। इस सबसे भारत के मुसलमान दु:खी थे। गाँधीजी ने ख़िलाफ़त समिति को राय दी कि उनके सामने एकमात्र रास्ता असहयोग आंदोलन का ही था। समिति ने गाँधीजी का सुझाव स्वीकार कर लिया। अगस्त, 1920 में वायसराय को लिखे गए एक पत्र में गाँधीजी ने कहा:

> "पिछले महीने में जो घटनाएँ घटी हैं उनसे मेरी यह धारणा पुष्ट हुई है कि ख़िलाफ़त के मामले में सम्राट की सरकार का रवैया बहुत अनैतिक, असंगत और अन्यायपूर्ण रहा है और अपनी अनैतिकता को छिपाने के लिए सरकार एक गलती से दूसरी गलती की ओर बढ़ती रही है। ऐसी सरकार के लिए मेरे पास न आदर शेष रह सकता है और न स्नेह। महामहिम द्वारा सरकारी अपराधों की अवहेलना, सर माइकेल और डायर को दोषमुक्त करना, मोंटेग्यू का प्रेषण तथा सबसे अधिक पंजाब की घटनाओं से अनभिज्ञता और हाउस ऑफ लार्ड्स द्वारा भारतीयों की भावनाओं के कठोर अनादर से मेरा मन साम्राज्य के भविष्य के बारे में घोर संदेहों से भर गया है, वर्तमान सरकार से मैं पूरी तरह विलग हो गया हूँ तथा मेरे लिए अब यह सब पूर्ण सहयोग देना असंभव हो गया है जो मैं अब तक बराबर देता रहा था... मैं समझता हूँ कि मेरा आचरण सत्य के विरुद्ध होगा अगर मैं ऐसी सरकार को राक्षसी सरकार न कहूँ जो धोखे-धड़ी, हत्या और घोर क्रूरता की अपराधी हो और जो फिर भी पश्चाताप करने के बजाय अपने पापों को छिपाने के लिए अधिकाधिक असत्य का सहारा लेती जा रही हो।"

ख़िलाफ़त समिति द्वारा असहयोग आंदोलन का सुझाव मान लिए जाने के तुरंत बाद ही कांग्रेस ने कलकत्ते में सितंबर, 1920 में ही विशेष अधिवेशन बलाने का निर्णय किया

था। कलकत्ता अधिवेशन में पास हुए असहयोग आंदोलन संबंधी प्रस्ताव की कांग्रेस के 1920 के वार्षिक अधिवेशन में, जो इस बार नागपुर में हुआ, पुष्टि की गई। कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन का विशेष महत्व है क्योंकि इसने कांग्रेस के उद्देश्य, कार्यक्रम और साधनों में कुछ आमूल परिवर्तन किए। यद्यपि 1918 में ही उदारवादी कांग्रेस छोड़ चुके थे, अब भी कांग्रेस के भीतर दो विचारधाराएँ थीं। अभी तक कांग्रेस का ध्येय 'सांविधानिक उपायों के द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर स्वशासन की प्राप्ति' था। कांग्रेस के नेताओं में एक ओर वे लोग थे जो 'सांविधानिक उपायों' और 'ब्रिटिश साम्राज्य' के भीतर रहने के आदर्शों से बँधे रहना चाहते थे और दूसरी ओर उग्रवादी मत था जो ब्रिटिश साम्राज्य से सभी प्रकार के नाते तोड़ने के लिए आतुर था और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सभी संभव साधनों के प्रयोग को उचित मानता था। गाँधीजी ने इन दोनों के बीच समझौते का मार्ग निकाला। नागपुर अधिवेशन ने कांग्रेस का लक्ष्य 'ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर स्वशासन' के स्थान पर 'संभव हो तो ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर और आवश्यक हो तो उसके बाहर स्वराज' घोषित किया। गाँधीजी चाहते थे कि ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर स्वशासन अथवा स्वराज के साथ-साथ भारत को यह अधिकार भी मिले कि अगर वह चाहे तो ब्रिटिश साम्राज्य से नाता तोड़ सके। स्वराज के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कांग्रेस के अब केवल 'सांविधानिक उपायों' के स्थान पर 'सभी शांतिमय और उचित' उपायों में केवल आवेदन और अपील भेजना ही शामिल नहीं था अपितु सरकार को कर देने से मना करने जैसी सीधी कार्यवाही के प्रभावशाली साधन भी इन उपायों के अंग माने जा सकते थे। इस समझौते के मार्ग से कांग्रेस के भीतर उदार और उग्र दोनों मत काफी हद तक संतुष्ट हो गए किंतु श्रीमती एनी बेसेंट, मोहम्मद अली जिन्ना और विपिन चन्द्र पाल आदि ने अंत तक कांग्रेस के साधनों में आमूल परिवर्तन किए जाने का विरोध किया और प्रस्ताव पास हो जाने पर वे कांग्रेस छोड़कर बाहर चले गए।

असहयोग आंदोलन

कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में पास हुए असहयोग आंदोलन संबंधी प्रस्ताव में कहा गया था कि (1) सरकारी उपाधियों और अवैतनिक पदों का त्याग कर दिया जाए; (2) स्थानीय संस्थानों के मनोनीत सदस्य अपने स्थानों से त्याग-पत्र दे दें; (3) सरकारी उत्सवों, दरबारों तथा सरकारी अफसरों द्वारा अथवा उनके सम्मान में किए गए उत्सवों में शामिल न हुआ जाए; (4) धीरे-धीरे सरकारी, सरकारी सहायता प्राप्त अथवा सरकार के अधीन स्कूलों और कालिजों का बहिष्कार किया जाए और उनके स्थान पर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना की जाए; (5) सरकारी अदालतों का भी क्रमिक बहिष्कार किया जाए और आपसी झगड़ों के निपटारे के लिए पंचायती अदालतें स्थापित की जाएँ; (6) सैनिक, क्लर्क और मजदूर वर्गों के लोग मैसापोटामिया में काम करने के लिए अपनी

सेवाएँ देने से इनकार कर दें; (7) विधान-सभाओं के चुनावों में उम्मीदवार अपने नाम वापस ले लें तथा मतदाता भी चुनाव का बहिष्कार करें और किसी को भी मत न दें; (8) विदेशी माल और शराब का बहिष्कार किया जाए, स्वदेशी का प्रसार किया जाए तथा घर-घर में सूत की कताई और कपड़े की बुनाई आरंभ की जाए; (9) अस्पृश्यता का अंत किया जाए; और (10) हिंदू-मुस्लिम एकता को बढ़ावा दिया जाए।

इस प्रकार देखा जाये तो असहयोग आंदोलन के कार्यक्रम के दो प्रमुख भाग थे – एक रचनात्मक तथा दूसरा नकारात्मक। राष्ट्रीय विद्यालयों तथा पंचायती अदालतों की स्थापना, अस्पृश्यता का अंत, हिंदू-मुस्लिम एकता, स्वदेशी का प्रसार और कताई-बुनाई के काम रचनात्मक थे तथा सरकारी उपाधियों, उत्सवों, विधान-सभाओं, स्कूल-कालिजों, अदालतों, विदेशी वस्तुओं आदि का बहिष्कार नकारात्मक काम थे। गाँधीजी के अनुसार आंदोलन की प्रेरणा और नीति 'सत्य थी और उसका सिद्धांत अहिंसा'।

गाँधीजी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन जोरों से चला। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि इस आंदोलन में हिंदू-मुसलमान दोनों प्रमुख जातियों ने कंधे से कंधा मिलाकर और बराबर जोश के साथ भाग लिया। ख़िलाफ़त कमेटी के मुकाबले में मुसलिम लीग प्राय: खत्म सी हो गई। बड़ी संख्या में मुसलमान कांग्रेस में भर्ती हो गए। काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ, जामिया मिलिया, बिहार विद्यापीठ, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, आदि अनेक राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई। बहुत से विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूल-कालिजों में पढ़ाई छोड़ दी। बहुत से शिक्षक भी उनसे निकल आए। कई प्रमुख वकीलों और बैरिस्टरों ने अपनी वकालत छोड़ दी और वे राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पड़े। इन्हीं में थे पंडित मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, सरदार वल्लभ भाई पटेल, पंडित जवाहरलाल नेहरू, चितरंजन दास, विट्ठल भाई पटेल तथा डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद जैसे लोग। आंदोलन के मुसलिम नेताओं में प्रमुख थे अली बंधु - मौलाना मोहम्मद अली और मौलाना शौकत अली, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और डॉ॰ अंसारी, आदि। स्वदेशी चीजों का, चरखे का और विशेषकर हाथ के कते-बुने कपड़े अथवा खद्दर का प्रचार बढ़ा। जगह-जगह विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई। शराब और विदेशी कपड़े की दुकानों पर कांग्रेस के स्वयंसेवकों ने देशभर में धरने दिए। गाँधीजी ने अपना केसरे-हिंद का खिताब वापस कर दिया और उनकी देखादेखी और भी सैकड़ों लोगों ने ब्रिटिश सरकार से मिले खिताब वापस कर दिए। जैसे-जैसे इस बहुमुखी असहयोग आंदोलन ने तेजी पकड़ी और स्थिति सरकार के बूते से बाहर होने लगी, वैसे ही सरकार ने आंदोलन को कठोरता और पूरी शक्ति के साथ कुचल डालने का निश्चय किया। दमनचक्र पूरी तेजी और क्रूरता के साथ चल पड़ा। जगह-जगह शांतिपूर्ण स्वयंसेवकों और सत्याग्रहियों की मार-धाड़ और गिरफ्तारी की कारवाई की गई। जब प्रिंस ऑफ वेल्स के शीघ्र ही भारत यात्रा पर आने का समाचार मिला तो कांग्रेस ने सरकार की क्रूर दमन-नीति के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए उनका बहिष्कार करने का निश्चय किया। इससे सरकार और भी चिढ़ गई। प्रिंस ऑफ वेल्स जब 17 नवंबर, 1921 को बंबई पहुँचे तो उन्हें बंबई की सड़कें और बाजार उजड़े हुए मिले।

पूरे नगर में हड़ताल थी। कुछ छोटी-मोटी हिंसा की घटनाएँ भी हो गईं जिनमें सरकार और सत्याग्रहियों दोनों ओर से ही बल प्रयोग किया गया। अंत में जब सरकार दमन नीति से असहयोग आंदोलन को दबाने में असफल रही तो उसने कांग्रेस और ख़िलाफ़त समिति दोनों को गैर-कानूनी घोषित कर दिया। इससे भी आंदोलन की गति धीमी न पड़ी। स्वयंसेवकों की नित नई लहर सामने आती गई तथा पुलिस की ओर से अंधाधुंध लाठी चार्ज करने और गोली चलाने की घटनाएँ बढ़ती गईं। वर्ष का अंत होते होते अली बंधु, मोतीलाल नेहरू, चितरंजन दास, लाजपत राय, मौलाना आजाद आदि सभी चोटी के नेता जेल के सीखचों में बंद कर दिए गए। कुल मिला कर लगभग पचास हजार व्यक्ति गिरफ्तार हुए। केवल गाँधीजी पर हाथ डालने की सरकार की हिम्मत नहीं पड़ी।

दिसंबर, 1921 में कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में आंदोलन की गति और भी तेज करने का निर्णय लिया गया तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ किए जाने की अनुमति दे दी गई। इस विषय में आवश्यक कदम उठाने तथा पूरे आंदोलन का संचालन करने के अधिकार गाँधीजी को सौंपे गए। फरवरी, 1922 में गाँधीजी ने वायसराय रीडिंग को एक पत्र लिखकर चेतावनी दी कि यदि एक सप्ताह के भीतर दमन-नीति में परिवर्तन नहीं किया गया तो वे अवज्ञा आंदोलन आरंभ कर देंगे। हिंसा की बढ़ती हुई घटनाओं से गाँधीजी पहले से चिंतित थे। अली बंधुओं ने सचमुच कुछ हिंसात्मक कार्यवाही को भड़काने वाले भाषण दिए थे। अगस्त, 1921 में मलाबार में मोपलों ने हिंसा के भयंकर कृत्य किए थे और न केवल अँग्रेजों को मारा था वरन् हजारों स्वदेशवासियों की भी हत्या कर डाली थी। इसी बीच, गाँधीजी की चेतावनी का सप्ताह पूरा होने से पहले ही, संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के जिले गोरखपुर में चौरा-चौरी नामक स्थान पर हिंसा की एक भयानक घटना हो गई जिसमें 5 फरवरी, 1922 को क्रोध से उतावली एक भीड़ ने पुलिस के 22 आदमियों को थाने के अंदर जला दिया। गाँधीजी को इस घटना से इतनी चिंता और मानसिक पीड़ा हुई कि उन्होंने तुरंत आंदोलन को बंद कर देने के आदेश जारी कर दिए। आंदोलन जिस सफलता के साथ आगे बढ़ रहा था, उसे देखते हुए, कुछ कार्यकर्ताओं और प्रेक्षकों के विचार से गाँधीजी का यह निर्णय उचित नहीं था। मुसलिम नेताओं और मुसलिम जनता ने गाँधीजी की 'सत्य और अहिंसा' की नीति को कभी पूरी तरह स्वीकार नहीं किया था। अली बंधु, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, नेहरू - पिता-पुत्र, चितरंजन दास, लाजपतराय आदि नेता भी गाँधीजी के आंदोलन रोकने के निर्णय से असंतुष्ट थे। किंतु गाँधीजी को स्पष्ट दिख रहा था कि जनता में अनुशासन की कमी होती जा रही थी, सभी नेता जेलों में थे, हिंसा की घटनाएँ चारों ओर बढ़ रही थीं और अगर आंदोलन को रोका न जाता तो शायद हिंसा बढ़ती जाती और फिर सरकार भी खून बहाने और आतंक के तरीकों से राज करने पर उतारू हो जाती। जो भी हो इस प्रकार एकदम अचानक आंदोलन बंद कर देने से गाँधीजी की लोकप्रियता को भारी धक्का लगा और लोग उनके नेतृत्व में संदेह करने लगे। गाँधीजी के प्रति असंतोष की भावना का लाभ

उठाकर सरकार ने उन्हें मार्च, 1922 में गिरफ्तार कर लिया, उन पर मुकदमा चलाया गया। मुकदमा अहमदाबाद में 18 मार्च, 1922 को सेशन जज ब्रूम्सफील्ड की अदालत में शुरू हुआ। गाँधीजी ने अपने अत्यंत प्रभावशाली बयान में सरकार के 'पैशाचिक कृत्यों' की भर्त्सना करते हुए कहा कि वे कृत्य किसी भी राजभक्त प्रजाजन को राजद्रोही बना सकते थे। अदालत के सामने गाँधीजी का बयान और बाद में जज ब्रूम्सफील्ड द्वारा दिया गया निर्णय दोनों ही ऐतिहासिक और पठनीय हैं। शासन के विरुद्ध जनता में असंतोष फैलाने के अपराध में गाँधीजी को 6 वर्ष की साधारण कारावास की सजा दी गई। गाँधीजी की गिरफ्तारी और सजा के साथ असहयोग आंदोलन भी शिथिल पड़ गया किंतु राष्ट्रीयता की ज्योति जलती रही। हाँ उसका क्षेत्र खुले जन-आंदोलन से हट कर विधानमंडल के सदनों में आ गया।

असहयोग आंदोलन का मूल्यांकन

भारतीय स्वाधीनता और राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में असहयोग आंदोलन का अपना महत्व है। जुलाई, 1920 में लोकमान्य तिलक की मृत्यु के बाद गाँधीजी कांग्रेस के एकछत्र नेता रह गए थे। असहयोग आंदोलन का प्रस्ताव और पूरी योजना उनकी थी और आंदोलन का संचालन भी उन्हीं के हाथों में था। प्राय: माना जाता है कि 1920 में असहयोग आंदोलन के साथ ही भारतीय राजनीतिक जीवन में एक नए युग का प्रारंभ हुआ जिसे 'गाँधी-युग' की संज्ञा दी जाती है और राष्ट्रीय आंदोलन में एक नई विचारधारा जन्मी जिसमें अँग्रेजों से सुधारों की भीख माँगने के बजाय विदेशी सरकार के विरुद्ध ख़ुल्लम-खुल्ला सीधी कार्रवाई करने के संकल्प की घोषणा निहित थी। असहयोग आंदोलन सचमुच भारत का पहला जन-आंदोलन था। इसका सूत्रपात एक क्रांतिकारी कदम था जिसने कांग्रेस के स्वरूप और स्वभाव में एक मूलभूत परिवर्तन कर दिया। कांग्रेस अब लोकप्रिय और लोकतंत्री अखिल भारतीय संस्था तथा भारत में विदेशी शासन के विरुद्ध अहिंसात्मक विद्रोह का माध्यम बन गई। गिने-चुने बुद्धिजीवियों का सम्मेलन न रहकर अब वह आम जनता का आंदोलन बन गई। अब उसमें एक बड़ी संख्या में किसानों ने और कुछ मजदूरों ने भी प्रवेश किया। जनता में विद्रोह का स्वर निकालने का साहस जन्मा तथा अपने में और अपने देश के गौरवमय अतीत में इससे एक नया विश्वास पैदा हुआ। सरकार की शक्ति और दमन-चक्र का डर लोगों के दिल से निकला और उनमें आत्मसम्मान की भावना और एक नई निर्भीकता जगी। भारत में अँग्रेजी राज केवल भय और निहित स्वार्थ वाले भारतीयों के सहयोग पर आधारित था। गाँधीजी की सारी शिक्षा का सार था निर्भयता और सत्य। उन्होंने कहा 'खिताबों को छोड़ों।' यद्यपि अधिकांश लोगों ने खिताब नहीं छोड़े, फिर भी अँग्रेजों द्वारा दिए गए सम्मानों और खिताबों का जनता की नजर में आदर न रहा, उन्हें गिरावट का प्रतीक समझा जाने लगा। हाथ का कता-बुना कपड़ा खादी

स्वाधीनता के सिपाहियों की पोशाक बन गई तथा कारावास उनकी ससुराल तथा तीर्थ-स्थान माना जाने लगा। कूपलैंड के अनुसार :

"गाँधीजी ने भारत के इतिहास का रुख बदल दिया। उन्होंने वह काम कर दिखाया जो तिलक भी नहीं कर सके थे। उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को क्रांतिकारी बनाया। स्वतंत्रता के लक्ष्य की ओर बढ़ना सिखाया, सरकार के ऊपर सांविधानिक दबाव डाला, वाद-विवाद और समझौते के द्वारा नहीं अपितु शक्ति के द्वारा – हाँ शक्ति, भले ही वह शक्ति अहिंसात्मक हो। उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को क्रांतिकारी ही नहीं बनाया, अपितु उसे लोकप्रिय भी बना दिया। अभी तक जो आंदोलन नगर के बुद्धिजीवी वर्ग तक सीमित था अब वह देहातों की आम जनता तक पहुँच गया और जागृति पैदा करने लगा।"

पंडित नेहरू के शब्दों में:

"एक पृथक और अधिक निष्क्रिय परंपरा में पले हुए कांग्रेस के पुराने नेता इस परिवर्तन को सरलता से स्वीकार नहीं कर सके और आम जनता की जागृति से उन्हें चिंता हुई। फिर भी विचारों और भावनाओं की जो लहर देश में बही वह इतनी शक्तिशाली थी कि वे लोग भी कुछ हद तक उसके नशे से भर गए। कुछ लोग बाहर निकले जिनमें मोहम्मद अली जिन्ना भी थे। उन्होंने हिंदू-मुसिलम प्रश्न पर कांग्रेस के साथ किसी मतभेद के कारण उसे नहीं छोड़ा बल्कि इस कारण छोड़ा क्योंकि वे उसकी नई प्रगतिशील विचारधारा से मेल नहीं बैठा सके। इससे अधिक महत्वपूर्ण कारण यह था कि उन्हें हिंदुस्तानी में बोलने वाले, सीधे-सादे आम लोगों से घृणा थी और कांग्रेस में अब इन्हीं लोगों की भीड़ बढ़ रही थी। राजनीति के संबंध में उनका विचार उस ऊँचे ढंग का था जो विधान-सभाओं के या समितियों के कमरों के ही अनुरूप था। कुछ वर्षों तक तो जिन्ना राजनीति के मैदान से हटे हुए मालूम दिए, यहाँ तक कि उन्होंने सदा के लिए भारत छोड़ने का इरादा कर लिया। वे इंग्लैंड में बस गए और वहां उन्होंने कई वर्ष बिताए।

शांतिपूर्ण प्रतिरोध अथवा सत्याग्रह का जो हथियार राष्ट्रीय आंदोलन में कांग्रेस ने उठाया वह बिल्कुल नया और अद्‌भुत था। सरकार के पास उसका कोई संतोषजनक जवाब नहीं था। और भी कुछ नहीं तो असहयोग आंदोलन से जनता में जागृति तो फैली ही। स्वदेशी की लोकप्रियता बढ़ी। विदेशी माल के बहिष्कार से भारत में ब्रिटिश व्यापारिक हितों को भारी हानि पहुँची। राष्ट्रीय स्कूल, कॉलिज़ और विद्यालय देशभक्तों के राष्ट्रीय आंदोलन के लिए शिक्षण केंद्र बन गए। स्वदेशी के प्रयोग ने हजारों बुनकरों को रोजगार दिया। सुभाष चंद्र बोस के अनुसार :

"सन् 1921 ने देश को सचमुच एक बहुत अच्छी तरह संगठित दल दिया। इससे पहले कांग्रेस केवल एक सांविधानिक दल और बातचीत करने वाली संस्था थी। महात्माजी ने कांग्रेस को न केवल एक नया संविधान और राष्ट्रव्यापी आधार दिया

बल्कि उन सबसे महत्वपूर्ण काम यह किया कि उसे क्रांतिकारी संगठन में बदल दिया ... सारे देश में एक ही जैसे नारे दोहराए जाने लगे और एक कोने से दूसरे कोने तक एक ही नीति और सिद्धांत माने जाने लगे। अँग्रेजी भाषा का महत्व कम हो गया। कांग्रेस ने हिंदी को सारे देश की आम भाषा मान लिया। खादी सभी कांग्रेस जनों के लिए राष्ट्रीय वर्दी बन गई।''

दूसरी ओर, असहयोग आंदोलन में बहुत सी कमियाँ भी थीं और उसने राष्ट्रीयता की भावना को कई प्रकार से हानि भी पहुँचाई। ध्यान देने की बात है कि जब पहली बार कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में गाँधीजी ने असहयोग आंदोलन का प्रस्ताव रखा था तो वह बहुत थोड़े बहुमत से पास हुआ था क्योंकि श्रीमती ऐनी बेसेंट, मोहम्मद अली जिन्ना, चितरंजनदास, मदनमोहन मालवीय, विपिन चन्द्र पाल तथा लाजपतराय जैसे चोटी के नेताओं ने उसका विरोध किया था।

असहयोग आंदोलन की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि वह धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत के बिल्कुल विपरीत पड़ा। धर्म को व्यक्ति का निजी मामला और राजनीति के क्षेत्र से दूर रखने के बजाय, ख़िलाफ़त के निरे धार्मिक मामले के सहारे हिंदू-मुसलमानों को निकट लाने की कोशिश ने, धर्म और राजनीति को एक दूसरे में इतना डूबो दिया कि उसके बाद देश की सांप्रदायिक समस्या बढ़ती ही गई और कितने ही नारों और उच्चादर्शों की घोषणाओं के बावजूद भारतीय राजनीति से धार्मिक भेदभावों अथवा सांप्रदायिक समस्याओं को अलग न रखा जा सका।

भारतीय राजनीति में ख़िलाफ़त के प्रश्न को लाना ही शायद भारी भूल थी। 1921 का बर्बर मोपलों का विद्रोह और नृशंस हत्याएँ इसी का परिणाम थे। एक विदेशी लेखक पोलक के अनुसार ''ख़िलाफ़त आंदोलन की नींव ही गलत थी ... इधर तो भारतीय मुसलमान इसलाम की प्राचीन दुनिया की रूमानी परंपराएँ फिर से जीवित कर रहे थे, उधर तुर्क जिनके लिए वे आंदोलन कर रहे थे उनका मजाक बनाते थे और उनके दृष्टिकोण को पिछड़ा हुआ और मध्ययुगीन समझते थे।'' मुस्तफ़ा कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्की एक आधुनिक धर्मनिरपेक्ष राज्य बन गया। 1922 में औपचारिक रूप से ख़िलाफ़त का अंत कर दिया गया तथा ख़लीफ़ा को निर्वासित कर दिया गया। अत: भारत में ख़िलाफ़त आंदोलन की जड़ ही कट गई। असहयोग आंदोलन के एकदम से बंद किए जाने से कांग्रेस-लीग की मित्रता भी समाप्त हो गई और हिंदू-मुसलिम एकता के अपूर्व दृश्यों का स्थान हिंदू-मुसलिम दंगों ने ले लिया और 1923 और 1927 के बीच बड़े पैमाने पर देश भर में जहाँ-तहाँ कितने ही सांप्रदायिक दंगे हुए। एक ओर यह अँग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की कूटनीति का परिणाम था तो दूसरी और सांप्रदायिकता और धर्मांधता के ख़िलाफ़त रूपी भुजंग को दूध पिलाने की भूल का।

असहयोग आंदोलन अपने कुछ कार्यक्रमों में नितांत असफल रहा जैसे विधान मंडलों के बहिष्कार का कार्यक्रम। किसी भी कांग्रेस सदस्य ने चुनाव नहीं लड़ा। ऐसी

स्थिति में उदारवादियों, अवसरवादियों और राजभक्तों की बन आई। उन लोगों ने चुनाव लड़े। चुनाव यथावत हुए और परिषदें सरकार के समर्थकों से भर गईं। असहयोग आंदोलन की असफलता ने कांग्रेस को भी विधान मंडलों के प्रति अपना रुख बदलने के लिए बाध्य कर दिया और आगे के कुछ वर्षों में राष्ट्रीय आंदोलन विधान-मंडलों के मंच से ही आगे बढ़ा।

6

पूर्ण स्वराज्य का संकल्प

साइमन कमीशन और लाहौर कांग्रेस

1922 – 1930

"हमारा विश्वास है कि स्वाधीनता प्राप्त करना तथा अपने श्रम के फलों का उपभोग करना और विकास के लिए पूर्ण अवसर पा सकने के लिए जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करना, भारतीय जनता के–जैसे कि किसी भी और देश की जनता के–ऐसे अधिकार हैं जिन्हें कोई छीन नहीं सकता। हम यह भी विश्वास करते हैं कि यदि कोई सरकार जनता के इन अधिकारों का अपहरण करती है तथा जनता पर अत्याचार करती है, तो जनता को यह भी अधिकार है कि उस सरकार को बदल दे या मिटा दे। भारत में ब्रिटिश सरकार ने न केवल भारत के लोगों को उनकी स्वाधीनता से वंचित किया है, बल्कि अपनी नींव ही उनके शोषण पर रखी है। उसने भारत को आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार से नष्ट किया है। हमारा विश्वास है कि भारत को ब्रिटेन से संबंध तोड़ लेने चाहिए तथा पूर्ण स्वराज्य अथवा पूर्ण स्वाधीनता को प्राप्त करना चाहिए। ··· हम समझते हैं कि जिस शासन ने देश का इस प्रकार चतुर्मुखी नाश किया हो, उसे अब और अधिक स्वीकार करना, ईश्वर और मानवता के विरुद्ध अपराध होगा।"

पूर्ण स्वराज का प्रतिज्ञा-पत्र
26 जनवरी, 1930

स्वराज दल और विधान-मंडलों में प्रवेश

1919 के भारतीय शासन अधिनियम के द्वारा स्थापित केंद्रीय तथा प्रांतीय विधान-मंडलों का कांग्रेस ने गाँधीजी के आदेशानुसार बहिष्कार किया था और 1920-21 में हुए प्रथम चुनावों में भाग नहीं लिया था। 1918 में उदारवादियों ने कांग्रेस छोड़कर जिस राष्ट्रीय उदारवादी संघ (नेशनल लिबरल फेडरेशन) की स्थापना की थी उसी ने चुनावों

में प्रमुख भाग लिया तथा विधान-मंडलों में जाकर कांग्रेस की मूल सुधारवादी परंपरा को जीवित रखने का प्रयास किया। विधान-मंडलों में उसकी नीति थी 'जहाँ तक हो उसे सहयोग और जहाँ अनिवार्य हो वहाँ विरोध।' उदारवादियों ने नए अधिनियम के क्रियान्वय के पहले साल में ही 23 सितंबर, 1921 को केंद्रीय विधान-सभा में एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें अनुरोध किया गया था कि प्रांतों में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाए तथा प्रतिरक्षा, विदेश तथा राजनीतिक विभागों के अलावा अन्य समस्त केंद्रीय विषयों को लोक-नियंत्रण के अधीन रखा जाए। सरकार ने इस प्रस्ताव का विरोध किया लेकिन अंत में उसने भारत-सचिव के सम्मुख यह विचार रखना स्वीकार कर लिया कि भारत ने उत्तरदायी शासन के मार्ग पर जो प्रगति की है, उसे देखते हुए यह उचित प्रतीत होता है कि निर्धारित दस वर्ष की अवधि समाप्त होने से पहले ही संविधान का पुनर्परीक्षण होना चाहिए । लेकिन भारत-सचिव का विचार था कि नए संविधान का अभी पूरी तरह से परीक्षण नहीं हुआ है और उसने विधान-सभा द्वारा पारित प्रस्ताव को स्वीकार करने से मना कर दिया। इस प्रकार विधान-मंडलों के माध्यम से सांविधानिक सुधार करने के उदारवादियों के प्रयास असफल रहे और कुल मिलाकर वे देश के स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में कुछ विशेष योगदान नहीं कर सके।

उधर कांग्रेस द्वारा नियुक्त सविनय अवज्ञा जाँच समिति इस निष्कर्ष पर पहुंची कि असहयोग आंदोलन अपने लक्ष्य की सिद्धि में असफल रहा, गाँधीजी की एक वर्ष के भीतर स्वराज प्राप्ति की आशा अव्यावहारिक थी तथा विधान-मंडलों के बहिष्कार का कार्यक्रम कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं थी। इस समिति के सदस्य थे पंडित मोतीलाल नेहरू, डॉ॰ अंसारी, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, विट्ठल भाई पटेल और कस्तूरी रंगा आयंगर। हकीम अजमल ख़ाँ समिति के अध्यक्ष थे और समिति का प्रतिवेदन पंडित मोतीलाल नेहरू द्वारा तैयार किया गया था।

असहयोग आंदोलन की विफलता और गाँधीजी की गिरफ्तारी के बाद से देश के वातावरण में एक अजीब-सी निराशा भर गई थी। इसी सबके बीच राष्ट्रीय आंदोलन और कांग्रेस की राजनीति में एक नई विचारधारा का विकास हुआ। इसके प्रेरक थे पंडित मोतीलाल नेहरू और देशबंधु चितरंजदास। इन नेताओं का विचार था कि असहयोग आंदोलन स्थगित कर गाँधीजी ने भारी भूल की भी क्योंकि इससे राजनीतिक कार्यकर्ताओं के हौसले इतने पस्त हो गए कि उनमें फिर से उत्साह और प्रेरणा फूँकने में बरसों लग सकते थे। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक था कि राष्ट्रीय आंदोलन की प्रगति को कायम रखने के लिए कुछ दूसरे उपाय अपनाये जाएँ। अतः इन नेताओं ने सोचा कि कांग्रेस को विधान-मंडलों पर कब्जा करना चाहिए और उनके भीतर से राजनीतिक लड़ाई लड़नी चाहिए। इस प्रकार एक बार बहुमत में होने पर या तो कांग्रेस विधान-मंडलों को सुधार सकती थी और यदि यह संभव न होता तो उन्हें ठप्प कर सकती थी। विधान-मंडलों के माध्यम से जनता की आवाज और माँगें सरकार तक पहुँचायी जा सकती थीं और इस

प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन को जारी रखा जा सकता था। किंतु 1922 में कांग्रेस के गया अधिवेशन तक कांग्रेस का बहुमत इस विचारधारा के विरुद्ध रहा।

गाँधीजी इस समय कारावास में थे। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद आदि कुछ प्रमुख गाँधीवादी नेताओं ने यह विचार प्रकट किया कि यदि असहयोग और सीधी कार्यवाही का मार्ग छोड़ दिया गया और दास तथा मोतीलाल का कार्यक्रम मंजूर कर लिया गया तो इसका अर्थ यह लगाया जाएगा कि गाँधीजी के नेतृत्व को कांग्रेस ने अस्वीकार कर दिया। इसके विरुद्ध मोतीलाल, दास, विट्ठल भाई पटेल और हकीम अजमल खाँ आदि का विचार था कि विधान-मंडलों में जाकर वे वस्तुतः सरकार से कोई फैसला नहीं कर रहे थे बल्कि राष्ट्रीय आंदोलन को एक नए क्षेत्र में बढ़ाना चाह रहे थे। कांग्रेस में एक बार फिर फूट पड़ गई। परिवर्तन-विरोधी और परिवर्तन-समर्थक दो दल बन गए। किंतु, सौभाग्यवश यह आपसी संघर्ष अधिक दिन नहीं चला।

1923 में जब चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू ने स्वराज दल का संगठन किया और विधान-मंडल में प्रवेश का निश्चय कर लिया तो सितंबर में दिल्ली में मौलाना आज़ाद के सभापतित्व में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन किया गया तथा स्वराज दल को तथा उसके कार्यक्रम को कांग्रेस संगठन के अंतर्गत मान्यता दे दी गई। तय यह हुआ कि परिवर्तन-विरोधियों और परिवर्तन-समर्थकों को अपने-अपने कार्यक्रम पर चलने की छूट होगी। इससे कांग्रेस विभाजित होने से बच गई और एक प्रकार से स्वराज दल कांग्रेस का विधायी अंग बन गया। कांग्रेस की तरह स्वराज दल का उद्देश्य भी देश के लिए ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत 'डोमिनियन स्टेटस' अथवा 'स्वराज' की उपलब्धि था किंतु स्वराज की सिद्धि के लिए क्या तरीके अपनाए जाएँ, इसके बारे में स्वराज दल वालों तथा गाँधीवादियों में मतभेद था। गाँधीजी और उनके अनुयायी असहयोग आंदोलन और रचनात्मक कार्यक्रम पर जोर देते थे। गाँधीजी के अनुसार असहयोग आंदोलन की तथाकथित असफलता का कारण यह था कि देश अभी अहिंसात्मक आंदोलन के लिए पूरी तरह तैयार नहीं था। अतः यह जरूरी था कि रचनात्मक कार्यक्रम के अनुशासन द्वारा देश को भावी संघर्ष के लिए तैयार किया जाए। दूसरी ओर स्वराज दल के नेताओं का मत था कि देश की तत्कालीन स्थिति में स्वतंत्रता आंदोलन को आगे बढ़ाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय विधान-मंडलों में प्रवेश और अंदर से व्यवस्था को खोखला कर नाकाम बना देना था। स्वराजवादियों ने गाँधीजी के असहयोग की संकल्पना को एक नया अर्थ देने का प्रयास किया। उनके विचार में विधान-मंडलों के अंदर जाकर न केवल असहयोग जारी रखा जा सकता था बल्कि वह और अधिक प्रभावी हो सकता था। स्वराजवादियों का यह भी कहना था कि केवल रचनात्मक कार्यक्रम मात्र से कुछ होने वाला नहीं था। गाँधीजी फरवरी, 1924 में बीमारी और आपरेशन के बाद जेल से छूटकर आए। वे अब भी विधान-मंडलों में प्रवेश के विरुद्ध थे किंतु उन्होंने अपने को स्वराजवादियों के रास्ते से हटा लिया और उन्हें पूरा मौका दिया कि वे यह भी अपने मन की करके देख लें ताकि

उन्हें बाद में अफ़सोस न रहे कि यह तरीका नहीं अपनाया। स्वयं गाँधीजी और उनकी विचारधारा वाले लोग रचनात्मक कार्यक्रम में लगे रहे जबकि स्वराजवादी विधान-मंडलों में सक्रिय रहे।

स्वराज दल के चुनाव घोषणा-पत्र में कहा गया था कि विधान-मंडलों में पहुँचने पर दल का सबसे पहला काम यह होगा कि वह सरकार से माँग करे कि जनता का शासनतंत्र और व्यवस्था पर नियंत्रण रखने का अधिकार तुरंत स्वीकार किया जाए और उसे प्रभावी बनाया जाए। अगर सरकार इस माँग को स्वीकार नहीं करती तो प्रांतीय परिषदों तथा केंद्रीय विधान-सभा में स्वराज दल के सदस्यों का, जहाँ कहीं भी वे बहुमत में हों, यह कर्तव्य होगा कि समान और सतत् रूप से बाधाएँ डालने की नीति अपनाकर विधान-सभा और परिषदों के माध्यम से सरकार के लिए काम करते रहना असंभव कर दिया जाए। घोषणा-पत्र में यह भी कहा गया था कि यदि स्वराजवादी सरकार में परिवर्तन लाने में असफल रहे तो वे गांधीजी के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आंदोलन में शामिल हो जाएँगे।

विधान-मंडलों के ताजा चुनाव 1923 में ही हो गए थे और इनमें स्वराज दल को अच्छी-खासी सफलता मिली। केंद्रीय विधान-मंडल में कुल 145 स्थानों में 45 स्थान जीतकर स्वराज दल सबसे बड़ा दल बन गया। मौलाना आज़ाद के शब्दों में 'दल की सबसे बड़ी जीत यह थी कि उसने जो स्थान मुसलमानों के लिए सुरक्षित थे, उन पर भी कब्जा कर लिया तथा कुछ निर्दलीय और पंडित मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय दल (नेशनलिस्ट पार्टी) के सदस्यों के सहयोग से उसने पूर्ण बहुमत प्राप्त कर लिया।' पंडित मोतीलाल नेहरू स्वराज दल के नेता थे। अनेक महत्वपूर्ण प्रस्तावों पर उन्होंने सरकारी पक्ष को हराया तथा बार-बार बजट तथा अनेक विधेयकों को पास होने से रोका। साथ ही स्वराज दल के प्रयत्नों से राष्ट्रीय महत्व के कई प्रस्ताव आदि विधान-मंडल में पारित हुए। इन्हीं में 1924 और 1925 के राष्ट्रीय माँग संबंधी प्रस्ताव थे। इन प्रस्तावों में माँग की गई थी कि 1919 के भारतीय शासन अधिनियम द्वारा स्थापित व्यवस्था पर पुनः विचार किया जाए, उसमें सुधार किए जाएँ, प्रांतों को स्वायत्तता तथा देश को डोमिनियन स्टेटस पर दर्जा दिया जाये। 1924 में पंडित मोतीलाल नेहरू द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव में परिषद्-सहित गवर्नर-जनरल से संस्तुति की गई थी कि वह भारत में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना के विचार से 'भारतीय शासन अधिनियम को संशोधित कराए' तथा भारत के लिए एक सांविधानिक योजना की संस्तुति करने के लिए 'एक प्रतिनिधिक गोलमेज सम्मेलन' का आयोजन करे। प्रस्ताव में सुझाव दिया गया था कि यह योजना अनुमोदन के लिए नव-निर्वाचित भारतीय विधान-मंडल के सम्मुख उपस्थित की जानी चाहिए और फिर ब्रिटिश संसद के सम्मुख प्रस्तुत की जानी चाहिए जिससे कि वह उसे एक संविधि का रूप दे दे। सरकार के विरोध के बावजूद यह प्रस्ताव विशाल बहुमत से स्वीकृत हो गया। प्रस्ताव स्वीकृत होने

पर भारत सरकार के गृह-सचिव सर एलेक्जैंडर मुडीमेन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई। समिति का काम यह था कि यह 1919 के अधिनियम में जो दोष पाए जाएँ उन्हें (अधिनियम के गठन, नीति तथा प्रयोजन के अनुरूप) सुधारने के उपायों पर विचार करे। समिति ने अपना प्रतिवेदन 3 दिसंबर, 1924 को गवर्नर-जनरल की सेवा में प्रस्तुत कर दिया। समिति इस निर्णय पर पहुँची कि 1919 के अधिनियम में कोई मूलभूल कमी नहीं थी। समिति के अधिकांश सदस्यों का मत था कि 'वर्तमान संविधान' से भारतीयों को महत्वपूर्ण राजनीतिक अनुभव प्राप्त हो रहा है और शासन-तंत्र में छोटे-मोटे परिवर्तन करने से ही काम चल सकता है। लेकिन समिति के अल्पसंख्यक-तीनों भारतीय-सदस्य इससे सहमत नहीं थे। उन्होंने अपनी रिपोर्ट अलग दी जिसके अनुसार 1919 के अधिनियम में अंतर्भूत दोष थे और संविधान में आधारभूत परिवर्तन करके ही सुधार की आशा की जा सकती थी। जब 1925 में विधान-सभा में समिति के प्रतिवेदन पर चर्चा हुई तब विधान-सभा ने दुबारा एक प्रस्ताव पास करके वह माँग दुहराई जो पंडित मोतीलाल नेहरू के पिछले वर्ष के प्रस्ताव में निहित थी।

प्रांतीय स्तर पर, बंगाल और मध्य प्रांत के विधान-मंडलों में स्वराज दल को बहुमत प्राप्त हुआ था। इन दोनों प्रांतों में अपनी असहयोग और अवरोध की नीति के द्वारा उसने विधान-मंडलों को प्रायः ठप्प कर दिया और द्वैध शासन की व्यवस्था को बिल्कुल चलने ही न दिया। अन्य प्रांतों में भी स्वराज दल को पर्याप्त सफलता मिली। समय-समय पर उसने सांविधानिक सुधारों की माँग विधान-मंडलों में उठायी और कितने ही अवसरों पर उसका प्रभाव निर्णायक रहा। किंतु जिन प्रांतों में स्वराज दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं था वहाँ असहयोग और अवरोध की नीति अर्थहीन-सी हो जाती थी। केंद्र में और प्रांतों में भी, इन नीति के बावजूद सरकार की व्यवस्था और काम तो चलता ही रहता था, केवल अवरोध के लिए अवरोध अधिकाधिक तर्कहीन समझा जाने लगा। 1925 में चितरंजन दास की मृत्यु के बाद वैसे भी दल की शक्ति क्षीण होती जा रही थी। शीघ्र ही दल में फूट पड़ गई तथा बहुत से प्रमुख सदस्यों ने सरकार के प्रति जवाबी सहयोग का रास्ता अपनाना शुरु कर दिया। कुछ ने ऊँचे-ऊँचे पद भी स्वीकार कर लिए। 1925 में पंडित मोतीलाल नेहरू ने थल सेना के भारतीयकरण के लिए बनाई गई स्कीन समिति की सदस्यता स्वीकार कर ली। विट्ठल भाई पटेल केंद्रीय विधान-सभा के अध्यक्ष चुन लिए गए। मध्य प्रांत के स्वराजवादी नेता एस० बी० ताम्बले मध्य प्रांत के गवर्नर की परिषद् के सदस्य बन गए। 1926 के चुनावों में स्वराज दल को विशेष सफलता नहीं मिली और उसके बाद दल समाप्त सा ही हो गया। स्वराजवादियों को अपने विचार और कार्यक्रम आजमाने का पूरा अवसर मिल चुका था और वे विफल रहे थे। जिस प्रकार असहयोग आंदोलन के असफल होने पर कांग्रेस का सक्रिय नेतृत्व स्वराजवादियों की झोली में आ गिरा था, उसी प्रकार अब स्वराजवादियों के असफल हो जाने पर कांग्रेस की बागडोर वापस गाँधीजी के हाथों में चली गई।

स्वराजवादियों का योगदान

राष्ट्रीय आंदोलन में स्वराजवादियों के योगदान के विषय में कोई सर्वमान्य राय बना सकना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। स्वराजवादियों में कम से कम कुछ लोग कोरे अवसरवादी थे। उनमें अधिकांश लोग ऐसे थे जो जन आंदोलन की गर्द से घबराते थे और केवल ड्राइंगरूमों और विधान-मंडलों के भवनों में लच्छेदार बातचीत और तर्कपूर्ण भाषणों को ही राजनीति का जीवन मानते थे। उनमें विदेशी शासन के विरुद्ध लड़ने की, कष्ट उठाने की और त्याग करने की भावना की कमी थी। स्वराजवादियों की नीति में भी कुछ तर्कहीनता और विरोधाभास था। एक ओर वे 1919 के अधिनियम द्वारा स्थापित व्यवस्था का अंत करना चाहते थे और दूसरी ओर उसी के अंतर्गत विधान-मंडलों के चुनाव लड़ते थे। एक ओर विधान-मंडलों को वह अपना साधन या हथियार मानते थे और दूसरी ओर उन्हें ठप्प कर देना चाहते थे। बातें वह करते थे बड़ी अतिवादी और असहयोग की, पर चाहते थे आराम का संसदीय जीवन। अधिकांश स्वराजवादी मूल में उदारवादी थे, जेल जाना, लाठियाँ खाना, हड़तालें करना उन्हें प्रायः नहीं भाता था।

फिर भी स्वराजवादियों के योगदान का मूल्यांकन करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जिस समय उन्होंने विधान-मंडलों में प्रवेश करने और राष्ट्रीय आंदोलन को विधान-मंडलों के माध्यम से जारी रखने का मार्ग देश को सुझाया, उस समय सारे वातावरण में भारी निराशा फैली हुई थी और किसी को कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था। अधिकांश नेता जेलों में थे। गाँधीजी भी 6 वर्ष की कारावास भुगत रहे थे। असहयोग आंदोलन असफल हो चुका था। हिंसात्मक क्रांति संभव नहीं थी। विधान-मंडल सरकार के समर्थकों से भरे थे और सरकार का कहीं किसी प्रकार का विरोध करने वाला लगभग कोई नहीं था। स्वराजवादियों ने राष्ट्रीय आंदोलन की ज्योति को किसी न किसी रूप में जलाए रखा और विधान-मंडलों में अवरोध का मार्ग अपना कर राष्ट्रीयता की वाणी को अवरुद्ध होने से बचा लिया। प्रांतीय स्तर पर अपनी अवरोध की नीति के द्वारा स्वराजवादी दो प्रांतों–बंगाल और मध्य प्रांत–में द्वैध शासन का क्रियान्वय रोकने में सफल रहे। केंद्रीय स्तर पर वे राजनीतिक बंदियों की रिहाई तथा उत्तरदायी स्वशासन की स्थापना संबंधी माँगों के प्रस्ताव पास कराने में सफल हुए। स्वराजवादियों के प्रयास से मुडीमेन समिति की नियुक्ति हुई और बाद में लंदन में जो गोलमेज सम्मेलन हुए उनका सुझाव भी सर्वप्रथम स्वराजवादियों द्वारा विधान-सभा में पास कराए गए एक प्रस्ताव में ही दिया गया था। स्वराजवादी विधान-मंडलों के मंच से सरकार की नीतियों का और उसके निरंकुश स्वरूप का पर्दाफाश करने में सफल हुए जब बार बार सरकार को करारी हार खाते हुए दुनिया ने देखा।

साइमन कमीशन

1919 के भारतीय शासन अधिनियम में कहा गया था कि अधिनियम के पारित

होने के दस वर्ष बाद एक सांविधिक आयोग की नियुक्ति की जाएगी जो इस बात की जाँच करेगा कि अधिनियम व्यवहार में कहाँ तक सफल रहा तथा भारत उत्तरदायी शासन की दिशा में और आगे कहाँ तक प्रगति करने की स्थिति में है। दस वर्ष 1929 में पूरे होने को थे अत: 1929 में ऐसे आयोग की नियुक्ति की जानी थी। किंतु इंग्लैंड में राजनीतिक परिस्थिति कुछ ऐसी थी कि दो वर्ष पहले, नवंबर में ही आयोग की नियुक्ति आवश्यक समझी गई। इस समय इंग्लैंड में अनुदार दल की सरकार थी किंतु 1929 में आम चुनाव होने वाले थे जिनमें श्रमिक दल की विजय की पूरी संभावना थी। अनुदार दल यह नहीं चाहता था कि भारत के राजनीतिक भविष्य का निर्णय श्रमिक दल के हाथों हो। साथ ही भारतीय नेताओं की माँग भी थी कि शीघ्र ही सांविधानिक व्यवस्था में सुधार हो। 1926-27 में देश में सांप्रदायिक दंगों का बोलबाला था और हो सकता है यह भी एक कारण रहा हो जिससे अँग्रेजी सरकार ने यह समय आयोग की नियुक्ति के लिए उपयुक्त समझा। आयोग का कार्य अन्य बातों के साथ-साथ ब्रिटिश भारत में शासन-पद्धति के क्रियान्वय की जाँच करना तथा इस संबंध में प्रतिवेदन देना था कि क्या भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना वाँछनीय है और यदि हाँ तो किस सीमा तक अथवा इस समय भारत को जिस मात्रा में उत्तरदायी शासन प्राप्त है, उसे किस सीमा तक विस्तृत, संशोधित या प्रतिबंधित करने की आवश्यकता है।

आयोग में सात सदस्य थे और आयोग के अध्यक्ष थे सर जॉन साइमन। आश्चर्य और आक्रोश पैदा करने वाली बात यह थी कि आयोग में एक भी भारतीय नहीं था। यह देश के लिए अपमानजनक था। भारतीय लोकमत के प्राय: सभी वर्गों ने साइमन आयोग का घोर विरोध किया। 11 दिसंबर, 1927 को इलाहाबाद में एक सर्व-दल सम्मेलन हुआ जिसमें आयोग में एक भी भारतीय न रखे जाने की कड़ी भर्त्सना की गई तथा कहा गया कि आयोग में एक भी भारतीय सदस्य का न होना भारत के लोगों का जान-बूझ कर अपमान करना है। इससे उनकी स्थिति निश्चित रूप से निकृष्ट हो जाती है और 'भारतीय अपने देश के संविधान के निर्धारण में भाग लेने के अधिकार से वंचित हो जाते हैं।'

जहाँ-जहाँ साइमन आयोग गया 'साइमन वापस जाओ' (साइमन गो बैक) के नारों, काले झंडों तथा हड़तालों से उसका स्वागत किया गया। साइमन आयोग के विरोध में जगह-जगह पर जलूस निकाले गए तथा सभाएँ हुईं। पुलिस की लाठियों से कितने ही लोगों के चोटें आईं। इनमें पंजाब-केसरी लाला लाजपत राय, पंडित गोविंद वल्लभ पंत तथा जवाहरलाल नेहरू जैसे नेता भी थे। लाला लाजपतराय ने उन दिनों बीमार होते हुए भी एक विशाल जुलूस का नेतृत्व किया। पुलिस की जो लाठियाँ उन पर पड़ीं उन्हीं से कुछ सप्ताह बाद उनकी मृत्यु हो गई। मरने से पहले उनके मुख से निकला वह वाक्य अमर हो चुका है जिसमें उन्होंने कहा था कि 'मेरे ऊपर जो लाठियों के प्रहार किए गए हैं वही एक दिन ब्रिटिश साम्राज्य की शवपेटी में कीलें साबित होंगे 'आयोग ने दो बार भारत की यात्रा की। अक्तूबर, 1929 में तत्कालीन वायसराय लॉर्ड इर्विन ने ब्रिटिश सरकार

के इस निर्णय की घोषणा की कि आयोग का प्रतिवेदन प्राप्त होने के बाद वह ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों के प्रतिनिधियों के साथ एक गोलमेज सम्मेलन का आयोजन करेगी जिसका उद्देश्य भारत के लिए सुझाए गए सांविधानिक प्रस्तावों के संबंध में 'अधिकतम स्वीकृति' प्राप्त करना होगा। ये प्रस्ताव इसके बाद ही संसद के सम्मुख प्रस्तुत किए जाएँगे। लॉर्ड इर्विन ने सम्राट की सरकार की ओर से यह भी घोषणा की कि 'भारत की सांविधानिक प्रगति का स्वाभाविक लक्ष्य है...... डोमिनियन स्टेटस की प्राप्ति।'

मई, 1930 में साइमन आयोग का प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ। इस प्रतिवेदन में भारतीयों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति प्रकट नहीं की गई थी और उसमें डोमीनियन स्टेटस की चर्चा तक नहीं थी। इसके विपरीत जातिगत तथा सांप्रदायिक मतभेदों का विस्तार से वर्णन किया गया था। आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि (1) भारत में संसदीय अथवा उत्तरदायी शासन का प्रयोग सफल नहीं रहा है। (2) द्वैध शासन का तुरंत अंत कर दिया जाना चाहिए और प्रांतों में विधान-मंडलों के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों को शासन भार सौंप दिया जाना चाहिए। (3) यह समझ लेना चाहिए कि भारत के लिए एकात्मक राज्य-व्यवस्था उपयुक्त नहीं है और यह आवश्यक है कि यह यथाशीघ्र एक संघ-राज्य के रूप में विकसित हो। (4) सार्वभौम वयस्क मताधिकार की बात सोचना अव्यावहारिक है किंतु धीरे-धीरे मताधिकार और विधान-मंडलों का विस्तार किया जाना चाहिए। (5) केंद्रीय व्यवस्था में कोई आमूल परिवर्तन आवश्यक नहीं है किंतु केंद्रीय विधान -मंडल के दोनों सदनों के लिए सदस्यों का चुनाव प्रांतीय विधान-मंडलों द्वारा परोक्ष रीति से किया जा सकता है। केंद्रीय व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन बाद में जब देश की व्यवस्था का संघीय आधार पर पुर्नगठन हो जाए, तब हो सकते हैं। (6) सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली निंदनीय है किंतु फिलहाल उसके सिवाय दूसरा रास्ता नहीं है।

कुल मिलाकर देखें तो उस समय की स्थिति के हिसाब से तथा आयोग का जैसा स्वागत हुआ था उस सबको देखते हुए, साइमन आयोग के सुझाव बहुत बुरे नहीं थे। कूपलैंड के अनुसार तो साइमन आयोग का प्रतिवेदन तब तक का भारतीय समस्या का सबसे अधिक पूर्ण अध्ययन था। यद्यपि भारतीय जनमत ने इस प्रतिवेदन को बिल्कुल ठुकरा दिया और ब्रिटेन में श्रमिक दल की सरकार ने भी इस पर अधिक ध्यान नहीं दिया, तथापि, वर्षों के बाद 1935 के भारतीय शासन अधिनियम में इसकी बहुत सी सिफारिशों को मूर्त रूप मिला। यदि आयोग की सिफारिशें पहले ही मान ली जातीं तो शायद प्रांतीय स्वात्तता 1937 के बजाय 5-7 वर्ष पहले ही स्थापित हो जाती।

नेहरू प्रतिवेदन

साइमन आयोग की नियुक्ति के समय और उससे पहले भी अनुदार दल की सरकार में भारत-सचिव लार्ड बर्कनहैड ने भारतीय नेताओं को चनौती दी थी कि वे ऐसा

संविधान बनाकर दिखाएँ जो साधारणतया भारत के सभी लोगों को मान्य हो। उनका कहना था कि घोर सांप्रदायिक मतभेदों के कारण भारतीय स्वयं अपने लिए कोई संविधान बनाने में सर्वथा असमर्थ हैं। मई, 1927 में कांग्रेस के बंबई अधिवेशन में, पंडित मोतीलाल नेहरू ने एक प्रस्ताव रखा जिसमें कांग्रेस की कार्यकारिणी से कहा गया था कि वह केंद्रीय तथा प्रांतीय विधान-मंडलों के चुने हुए सदस्यों तथा राजनीतिक दलों के नेताओं के परामर्श से देश के लिए एक संविधान बनाए तथा उसे अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के सामने रखे। दिसंबर, 1927 के मद्रास अधिवेशन में भी कांग्रेस ने इसी आशय का एक प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव के आधार पर कांग्रेस कार्यकारिणी ने एक सर्वदलीय सम्मेलन का आयोजन किया। सम्मेलन की प्रथम बैठक फरवरी, 1928 में दिल्ली में हुई। भाग लेने वाले 29 दलों में थे कांग्रेस, हिंदू महासभा, मुस्लिम लीग, ख़िलाफ़त समिति, भारतीय ईसाई कांग्रेस, राष्ट्रीय उदारवादी संघ आदि। सम्मेलन ने निर्णय किया कि जो संविधान बनाया जाए उसमें पूर्ण उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था हो। 11 मई, 1928 को सम्मेलन की दूसरी बैठक बंबई में हुई। इस बैठक में पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में सात आदमियों की एक समिति बना दी गई और उससे 'भारत के संविधान के सिद्धांतों का निर्धारण' करने को कहा गया। समिति के सदस्य थे सर तेजबहादुर सप्रू, सुभाष चंद्र बोस, एम॰ एस॰ सरदार, मंगलसिंह, कुरेशी, जी॰ आर॰ प्रधान तथा अली इमाम। समिति ने तीन माह के अंदर 10 अगस्त, 1928 को अपना प्रतिवेदन दे दिया। यही प्रतिवेदन अथवा रिपोर्ट बाद में नेहरू प्रतिवेदन अथवा नेहरू कमेटी रिपोर्ट के नाम से विख्यात हुआ।

नेहरू प्रतिवेदन 'न केवल इस चुनौती का ही उत्तर था कि भारतीय राष्ट्रवाद में रचनात्मक प्रतिभा का अभाव है, बल्कि वह भारतीयों द्वारा सांप्रदायिक समस्या का हल खोजने की अब तक की सबसे अधिक साहसपूर्ण चेष्टा थी।' संक्षेपत:, प्रतिवेदन में जिस संविधान का खाका खींचा गया था वह डोमिनियन स्टेटस के सिद्धांत पर आधारित था। इसके अंतर्गत केंद्र तथा प्रांतों में संसदीय ढंग के पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना की व्यवस्था थी अर्थात् केंद्रीय तथा प्रांतीय दोनों स्तरों पर कार्यकारिणी विधानांग के प्रति उत्तरदायी होनी थी। प्रतिवेदन में इस सिद्धांत की घोषणा की गई थी कि प्रभुसत्ता भारत के लोगों में निहित है। स्वशासित डोमिनियनों के नमूने पर पूर्ण उत्तरदायी शासन की व्यवस्था करने के साथ-साथ समिति ने यह स्पष्ट कर दिया था कि डोमिनियम स्टेटस की उपलब्धि 'हमारे विकास की दूरस्थ अवस्था नहीं,' बल्कि तात्कालिक कदम है।

नेहरू प्रतिवेदन भारत के लिए एक पूरा नया संविधान बनाने का भारतीयों द्वारा किया गया पहला प्रयास था। यद्यपि उस समय अँग्रेजी सरकार द्वारा इस प्रतिवेदन का स्वीकार किया जाना संभव नहीं हो सकता था, तथापि यह महत्वपूर्ण है कि अंतत: 1945-1949 में स्वाधीन भारत का जो संविधान बना उसका ढाँचा बहुत कुछ इसी प्रतिवेदन के अनरूप था तथा व्यक्ति के मूलभूत अधिकारों संबंधी प्रावधानों का भी नए

संविधान में कुछ उसी रूप में समावेश हुआ था जिस रूप में नेहरू समिति ने उन्हें प्रस्तुत किया था।

पूर्ण स्वराज की ओर

कांग्रेस ने 1927 के मद्रास अधिवेशन में ही अपना लक्ष्य 'पूर्ण स्वराज' घोषित कर दिया था। नेहरू प्रतिवेदन में केवल डोमिनियन स्टेटस की माँग की गई थी। जब प्रतिवेदन 1928 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के सामने रखा गया तो 'पूर्ण स्वराज' और डोमिनियन स्टेटस को लेकर काफी मतभेद और गर्मागर्मी हुई। सुभाष चंद्र बोस और जवाहरलाल नेहरू उस युवावर्ग के नेता थे जो डोमिनियन स्टेटस के विरुद्ध था तथा तत्काल पूर्ण स्वराज के लक्ष्य का अनुमोदन कराना चाहता था। अंत में गाँधीजी के हस्तक्षेप से एक समझौता हो गया जिसके अनुसार सरकार को एक वर्ष का समय दिया गया और चेतावनी दी गई कि यदि इस वर्ष के भीतर उसने नेहरू प्रतिवेदन में प्रस्तावित सांविधानिक योजना को स्वीकार कर भारत को डोमिनियन स्टेटस न दिया तो कांग्रेस पूर्ण स्वराज से कम किसी बात पर समझौता नहीं करेगी तथा आंदोलन छेड़ने पर बाध्य हो जाएगी।

जब 1929 में इंग्लैंड में श्रमिक दल की सरकार बनी तो प्रधानमंत्री का पद सँभालते समय रैमजे मैकडॉनल्ड ने आशा व्यक्त की कि भारत वर्षों में नहीं वरन् महीनों में ही एक डोमिनियन के रूप में राष्ट्रमंडल का समान सदस्य बन जाएगा। वायसराय लार्ड इर्विन ने भी डोमिनियन स्टेटस की प्राप्ति को देश की सांविधानिक प्रगति का स्वाभाविक लक्ष्य माना था। किंतु प्रधान-मंत्री मैकडॉनल्ड और उनकी श्रमिक सरकार के वायदों, गाँधी-इर्विन भेंट आदि के बावजूद समझौते का कोई मार्ग न निकला। ब्रिटिश सरकार ने नेहरू प्रतिवेदन और डोमिनियन स्टेटस की माँग को ठुकरा दिया। चूँकि कांग्रेस के प्रस्ताव के अनुसार एक वर्ष की अवधि के भीतर यह माँग स्वीकार नहीं हुई, अतः प्रतिवेदन व्ययगत हो गया और उसके साथ ही कांग्रेस भी भारत के लिए डोमिनियन स्टेटस के लक्ष्य को स्वीकार करने के लिए बाध्य न रही और जब दिसंबर 1929 में कांग्रेस का अगला लाहौर अधिवेशन हुआ तो युवा आकांक्षाओं के नेता पंडित जवाहरलाल नेहरू को 'राष्ट्रपति' चुना गया।

जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में 31 दिसंबर, 1929 को, ठीक आधी रात के समय जब एक नया वर्ष जन्म ले रहा था, रावी के किनारे, बड़े उत्तेजनामय वातावरण में, कांग्रेस अधिवेशन ने ऐतिहासिक स्वाधीनता प्रस्ताव अंगीकार किया। इस सुप्रसिद्ध प्रस्ताव में 'पूर्ण स्वतंत्रता' के ध्येय की घोषणा के अतिरिक्त यह भी कहा गया था कि भावी चुनावों में भाग न लिया जाए तथा विधान-मंडलों में जो कांग्रेस सदस्य हों, वे त्यागपत्र दे दें। प्रस्ताव में अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यकारी समिति को यथासमय सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ करने का अधिकार दिया गया था। अधिवेशन ने यह भी

निर्णय किया कि 26 जनवरी को हर वर्ष स्वाधीनता दिवस के रूप में मनाया जाए। तभी से देश भर में भारत को विदेशी शासन से मुक्त कराने का प्रण हर वर्ष 26 जनवरी को दोहराया जाने लगा और 26 जनवरी तब तक स्वाधीनता दिवस के रूप में मनाया जाता रहा जब तक 15 अगस्त, 1947 को देश स्वाधीन न हो गया। उसके बाद भी इस पावन संकल्प की याद ताजा रखने के लिए तथा इस दिन को यथोचित मान देने के लिए स्वाधीन भारत का संविधान 26 जनवरी को ही लागू किया गया।

संविधान के अनुसार 26 जनवरी, 1950 को भारत एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बना और तब से 26 जनवरी को गणतंत्र दिवस के रूप में मनाया जाने लगा। इस प्रकार 26 जनवरी की हमारे इतिहास और राष्ट्रीय जीवन में विशेष महत्ता है।

7

सविनय अवज्ञा आंदोलन

गोलमेज सम्मेलनों से प्रांतीय स्वायत्तता तक

1930–1939

"मुझे क्षण भर के लिए भी इसमें संदेह नहीं है कि यदि ब्रिटेन चाहे तो वह तलवार के बल पर भारत को गुलाम बनाए रख सकता है। किंतु, ब्रिटेन की अपनी सुख-समृद्धि के लिए क्या अधिक श्रेयस्कर है – एक गुलाम किंतु विद्रोही भारत अथवा एक ऐसा भारत जो ब्रिटेन के बराबर खड़ा होकर, एक सामान्य साथी के रूप में, दुःख और मुसीबत में उसका साझीदार बने? हाँ, यदि आवश्यक हो, तो भारत ब्रिटेन के साथ मिलकर लड़ने को तैयार होगा, किंतु वह यह काम स्वेच्छा से ही करेगा और इसमें उसका लक्ष्य होगा विश्व-कल्याण, किसी जाति अथवा व्यक्ति का शोषण करना नहीं। मैं अपने देश के लिए स्वाधीनता लेना चाहता हूँ, विश्वास कीजिए कि जहाँ तक मेरा बस है, मैं यह स्वाधीनता इसलिए कदापि नहीं चाहता कि मेरा देश, जिसमें संसार भर की आबादी का पाँचवाँ हिस्सा बसता है, कभी भी किसी दूसरी जाति अथवा किसी व्यक्ति का शोषण करे। मुझे अपने देश के लिए स्वाधीनता चाहने का कोई अधिकार नहीं है, यदि मैं संसार की सभी दूसरी जातियों – चाहे वे दुर्बल हों अथवा शक्तिशाली – के लिए भी वैसी ही स्वाधीनता के समान अधिकारों को आदर और मान्यता न दूँ।... मैं तो यही कहूँगा कि इस ब्रिटिश द्वीप की भूमि से मैं यह आशा और विश्वास लेकर लौटूँ कि भारत और ब्रिटेन के बीच बराबर की साझेदारी का एक सम्मानपूर्ण संबंध स्थापित होने वाला है।"

– महात्मा गाँधी, गोलमेज सम्मेलन में

सविनय अवज्ञा आंदोलन

1928 में वल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में गुजरात के सूरत जिले में बारदोली के किसानों को लगानबंदी सत्याग्रह में आशातीत सफलता मिली थी। तभी से वल्लभ भाई

पटेल बारदोली और गुजरात के लिए ही नहीं, देश भर के लिए 'सरदार पटेल' हो गए तथा राष्ट्रीय आंदोलन के लिए एक नई संभावना और एक नई दिशा उजागर हुई। 1930 का प्रारंभ होते-होते भारी मंदी और व्यापक बेकारी के कारण देश भर में आर्थिक दशा बड़ी शोचनीय हो गई थी। मजदूर, किसान और व्यापारी सभी परेशान थे। उधर अँग्रेज सरकार को गाँधीजी की 'न्यूनतम माँगें' भी स्वीकार नहीं थीं। कुछ न कुछ सार्थक कदम उठाना अनिवार्य था। यदि कांग्रेस कुछ न करती तो हो सकता था कि देश का नेतृत्व उसके हाथों से निकल जाता। कांग्रेस पीछे रह जाती और देश आगे निकल जाता।

11 फरवरी, 1930 को कांग्रेस कार्यकारिणी ने गाँधीजी को सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ करने के अधिकार दे दिए। पहले तो गाँधीजी ने बहुत कोशिश की कि किसी प्रकार आंदोलन की आवश्यकता टल जाए और वायसराय कांग्रेस की न्यायोचित माँगों को मान लें, किंतु जब उन्हें इसमें सफलता न मिली तो 12 मार्च, 1930 को गाँधीजी ने अपनी ऐतिहासिक दांडी यात्रा प्रारंभ कर दी। यात्रा के अंत में 6 अप्रैल, 1930 को उन्होंने नमक कानून तोड़कर सविनय अवज्ञा आंदोलन का सूत्रपात किया। सरकार ने नमक पर कर दुगुना कर दिया था। इसका सीधा और सबसे अधिक प्रभाव गरीब जनता पर पड़ा था क्योंकि नमक सब के काम आने वाला और सबसे साधारण और सस्ता खाद्य पदार्थ था। निजी रूप से समुद्र के पानी से भी नमक बनाना कानूनी जुर्म था। किंतु, गाँधीजी द्वारा इस कानून को भंग किए जाने के तुरंत बाद ही देश भर में जगह-जगह यह कानून भंग किया जाने लगा और खुले-आम नमक बनने लगा। अवज्ञा आंदोलन के कार्यक्रम में शराबबंदी और विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार को भी विशेष स्थान दिया गया था। जहाँ-तहाँ विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई तथा शराब की दुकानों पर धरने दिए गए। भारतीय महिलाएँ गाँधीजी के आवाहन पर घरों की चारदीवारी और पर्दा छोड़कर सामने आईं और हजारों की संख्या में जेल गईं। शराबबंदी आंदोलन में महिलाओं ने विशेष सक्रिय भाग लिया। सविनय अवज्ञा आंदोलन से देशभर में उत्साह की नई लहर दौड़ गई। अँग्रेज सरकार ने शांतिमय सत्याग्रह का उत्तर लाठीचार्ज और गोलियों से दिया। कांग्रेस को गैर-कानूनी संगठन करार दे दिया गया। सरकार ने बहुत से आपात्कालीन अध्यादेश जारी किए।

दमन-चक्र पूरे वेग के साथ चला। सीमा प्रांत में बादशाह ख़ान के नेतृत्व में 'लाल कुर्ती' वालों ने आंदोलन में प्रमुख भाग लिया। 23 अप्रैल, 1930 को पेशावर में बहादुर पठानों ने सत्याग्रह की अहिंसक लड़ाई की एक ऐसी मिसाल पेश की जो इतिहास में कभी भी भूली न जा सकेगी। सैकड़ों की तादाद में पठान मौत की तनिक भी परवाह किए बगैर, तोपों और बंदूकों की ओर बढ़ते चले गए और उन्हें अमानवीय नृशंसता के साथ भून दिया गया। पंडित नेहरू, महात्मा गाँधी आदि सभी नेता पकड़ लिए गए किंतु आंदोलन बढ़ता ही गया। अन्यायपूर्ण कानूनों का अहिंसात्मक ढंग से भंग किया जाना एक धर्म-सा बन गया था। शीघ्र ही देश भर में सरकार की जेलें भर गईं, यहाँ तक कि कितनी ही नई जेलें बनवानी पड़ीं। लोगों ने सरकारी कर देने से मना करना शुरू कर दिया।

विभिन्न प्रकार सविनय अवज्ञा के लिए, 1930 में लगभग 50-60 हजार लोग जेल गए।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन

जिस समय सविनय अवज्ञा आंदोलन और उसका दमन दोनों ही पूरे जोरों से चल रहे थे, ब्रिटिश सरकार ने भारत के भावी संविधान के सिद्धांतों पर विचार करने के लिए लंदन में एक गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया। सम्मेलन 12 नवंबर, 1930 को शुरू हुआ। इसमें ब्रिटेन के तीनों राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि, संसद सदस्यों, देसी रियासतों के शासकों के प्रतिनिधियों तथा कुछ राजनीतिक दलों और हितों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया, किंतु सम्मेलन का गठन नितांत असंतोष्जनक था क्योंकि उसमें न तो देसी रियासतों की जनता के प्रतिनिधि थे और न कांग्रेस के। कांग्रेस देश का प्रमुख राजनीतिक दल था और उसके अनुयायियों की संख्या भी सबसे अधिक थी। उसके प्रतिनिधियों की अनुपस्थिति में भारत की राजनीतिक समस्या को सुलझाने के लिए बुलाया गया कोई भी सम्मेलन बिना दूल्हे की बरात था। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि प्राय: किसी भी महत्वपूर्ण प्रश्न पर कोई एक राय अथवा निर्णय नहीं हो सका, किंतु इस सम्मेलन में पहली बार ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत में संघात्मक व्यवस्था की स्थापना की एक योजना रखी गई। इसमें कहा गया था कि भारत की भावी शासन-व्यवस्था एक अखिल भारतीय संघ के रूप में होगी जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रांत तथा रियासतें दोनों शामिल होंगे। देसी राज्यों के शासकों के प्रतिनिधियों – महाराजा बीकानेर, महाराजा काश्मीर और नवाब भोपाल – ने न केवल संघ-व्यवस्था का समर्थन किया अपितु यह भी कहा कि अखिल भारतीय संघ में देसी राज्य इस शर्त पर शामिल होंगे कि केंद्रीय स्तर पर उत्तरदायित्व की स्थापना हो। प्रांतों को स्वायत्तता और उत्तरदायी शासन तथा केंद्र में आंशिक उत्तरदायी शासन देने की बातें भी की गईं। इन मूल बातों पर सम्मेलन में किसी को आपत्ति नहीं थी किंतु सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व जैसी जटिल समस्याओं का कोई हल न निकल सका। वैसे भी, कांग्रेस की अनुपस्थिति में कोई भी निर्णय लिया जा सकना निरर्थक था क्योंकि वह भारतीय जनता को मान्य न होता। सम्मेलन के अंतिम दिन 19 जनवरी, 1931 को प्रधानमंत्री मैकडॉनल्ड ने ब्रिटिश सरकार की भारत-नीति के संबंध में एक वक्तव्य में कहा कि ब्रिटिश सरकार भारत के शासन का उत्तरदायित्व केंद्रीय और प्रांतीय विधान-मंडलों को सौंपना चाहती है और संधिकाल के लिए आवश्यक आरक्षित शक्तियों का प्रावधान भी इस प्रकार करेगी कि नई सांविधानिक व्यवस्था के द्वारा पूर्ण उत्तरदायी व्यवस्था की ओर भारत की प्रगति में बाधा न पड़े। अपनी ओर से एक व्यक्तिगत आश्वासन देते हुए मैकडॉनल्ड ने यहाँ तक कहा कि उन्हें पूरी आशा और विश्वास है कि भारत शीघ्र ही दूसरे स्वशासित डोमिनियनों की तरह राष्ट्रमंडल का पूरा, बराबर का, सदस्य हो जाएगा।

गाँधी-इर्विन समझौता

ब्रिटिश प्रधानमंत्री के 19 जनवरी, 1931 के वक्तव्य की भारत में अच्छी प्रतिक्रिया हुई। देश के वातावरण में एक अपूर्व आशा छा गई। वस्तुतः स्वाधीनता संघर्ष के इतिहास में अभी तक कभी भी देश सफलता के इतना निकट नहीं दिखाई दिया था जितना कि प्रथम गोलमेज सम्मेलन के तुरंत बाद। लगता था कि सुरक्षा और वैदेशिक मामलों में कुछ अस्थायी आरक्षणों को छोड़कर और सब तरह से भारत में पूर्ण उत्तरदायी संघात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना हो जाएगी।

यह स्पष्ट था कि मैकडॉनल्ड के वक्तव्य के पीछे कांग्रेस का सहयोग पाने की इच्छा थी। सरकार ने जनवरी 1931 में ही महात्मा गाँधी और कांग्रेस कार्यकारिणी के सब सदस्यों को जेल से बिना शर्त रिहा कर दिया। उदारवादी नेता सर तेजबहादुर सप्रू तथा एम॰ आर॰ जयकर के प्रयत्नों से महात्मा गाँधी और वायसराय लार्ड इर्विन के बीच बातचीत प्रारंभ हुई और 5 मार्च, 1931 को उस समझौते पर हस्ताक्षर हुए जो गाँधी -इर्विन समझौते के नाम से विख्यात हुआ। समझौते के अंतर्गत ऐसे सभी राजनीतिक बंदियों को, जिनके विरुद्ध हिंसा के आरोप नहीं थे रिहा कर दिया गया, विदेशी कपड़े और शराब आदि की दुकानों पर शांतिपूर्ण धरना देने का अधिकार स्वीकार कर लिया गया, समुद्र के निकटवर्ती प्रदेशों में बिना नमक-कर दिए नमक बनाने की इजाजत दे दी गई। जो सबसे महत्वपूर्ण बातें समझौते में शामिल की गईं, वे थीं गाँधीजी द्वारा सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित करने की तथा दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने की रजामंदी। गोलमेज सम्मेलन में बातचीत जिस आधार पर होनी थी वह भी स्पष्ट कर दिया गया:

> "जहाँ तक सांविधानिक प्रश्नों का संबंध है, भावी बातचीत का उद्देश्य होगा भारत के लिए सांविधानिक सरकार की उस योजना पर आगे विचार करना जिस पर प्रथम गोलमेज सम्मेलन में चर्चा हुई थी। उस योजना के मुख्य अंग हैं – संघात्मक व्यवस्था, भारतीयों की अपनी उत्तरदायी सरकार तथा सुरक्षा, वैदेशिक संबंध, अल्पसंख्यकों की स्थिति, भारत का वित्तीय ऋण और दायित्वों का निर्वाह जैसे कुछ मामलों में भारत के हित में आवश्यक आरक्षण और रक्षोपाय।"

गाँधी-इर्विन समझौते का कराची कांग्रेस ने अनुमोदन कर दिया किंतु देश-भर में, विशेषकर युवक वर्ग में, समझौते की कड़ी आलोचना की गई तथा गाँधीजी को काफी बुरा-भला कहा गया क्योंकि समझौते में, देश को 'समाजवाद' और 'इनकलाब-जिंदाबाद' के नारे देने वाले देशभक्त सरदार भगतसिंह और उनके साथी राजगुरु और सुखदेव की रिहाई के बारे में कुछ नहीं कहा गया था। गाँधीजी ने इन युवक देशभक्तों की जान बचाने और उनकी मौत की सजा कम करने की शर्त भी वायसराय के सामने नहीं रखी। जनता में क्षोभ स्वाभाविक था। इधर कांग्रेस का कराची अधिवेशन हो रहा था और उधर सरदार भगतसिंह तथा उनके साथियों को फाँसी के तख्ते पर चढ़ाया जा रहा था। भगतसिंह की

फाँसी की पृष्ठभूमि में गाँधी-इर्विन समझौता स्वाधीनता संग्राम की कहानी के उन कुछ प्रकरणों में से है जिनमें गाँधीजी की भूमिका को इतिहास सदैव आलोचना की दृष्टि से देखता रहेगा, कुछ उसी तरह जैसे **रामायण** में सीता के परित्याग के लिए इतिहास ने आज तक राम को क्षमा नहीं किया।

दूसरा गोलमेज सम्मेलन

दूसरा गोलमेज सम्मेलन लंदन में 7 सितंबर से 1 दिसंबर, 1931 तक हुआ। इसमें कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में गाँधीजी सम्मिलित हुए। अन्य नेताओं में, जिन्हें ब्रिटिश सरकार ने मनोनीत किया था, पंडित मदनमोहन मालवीय और श्रीमती सरोजनी नायडू भी थे। दूसरे गोलमेज सम्मेलन से बड़ी आशाएँ थीं और लगता था कि स्वराज का सपना अब साकार बना। किंतु, इसी बीच इंग्लैंड में सरकार बदल चुकी थी। मैकडॉनल्ड अभी भी प्रधानमंत्री थे किंतु उनके अधिकांश साथी और समर्थक अब अनुदारवादी थे, श्रमिक दल के लोग नहीं। भारत-सचिव और वायसराय भी बदल दिए गए। गोलमेज सम्मेलन में गाँधी -इर्विन समझौते की मूल भावनाओं की उपेक्षा की गई जिससे गाँधीजी को घोर निराशा हुई। किंतु गोलमेज सम्मेलन में गाँधीजी ने बड़े प्रभावशाली और गौरवमय भाषण दिए। कांग्रेस के प्रवक्ता के रूप में गाँधीजी ने विरोध भरे स्वर में कहा कि सम्मेलन में सांप्रदायिक समस्या पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जा रहा है और अल्पसंख्यक वर्गों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है कि वे अपनी जिद पर अड़े रहें। सम्मेलन में जिन आरक्षणों तथा रक्षोपायों का प्रस्ताव किया जा रहा है, उनसे भारतीयों के हाथों में सत्ता का हस्तांतरण पूरी तरह से अवास्तविक हो जाएगा।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री के अनुसार 'सांप्रदायिक गतिरोध की अलंघ्य बाधा' के कारण ही व्यापक सांविधानिक प्रश्नों के संबंध में गोलमेज सम्मेलन विशेष प्रगति न कर सका। किंतु, वस्तुतः अनुदार दल की सरकार भारत में अपने निरंकुश अधिकार और आर्थिक शोषण के लाभ छोड़ने तथा भारतीयों को उत्तरदायी स्वशासन देने के लिए तैयार नहीं थी। फलतः सम्मेलन में कोई समझौता न हो सका और यह स्वाभाविक ही था। गाँधीजी की इच्छा थी कि वे यह आशा और विश्वास लिए भारत लौटें कि शीघ्र ही भारत और ब्रिटेन के बीच बराबर के साझेदारी का एक सम्मानपूर्ण संबंध स्थापित होने वाला है। उनकी यह इच्छा पूरी न हुई। वे खाली हाथ और निराश लौटे। स्वदेश पहुँचने पर उन्होंने कहा: "यह सच है कि मैं खाली हाथ लौटा हूँ किंतु मुझे संतोष है कि जो ध्वज मुझे सौंपा गया था मैंने उसे नीचा नहीं होने दिया और उसके सम्मान के साथ समझौता नहीं किया।" भारत लौटने पर गाँधीजी ने वायसराय से मिलना चाहा किंतु नए वायसराय लॉर्ड विलिंगडन ने गाँधीजी से मिलने से इनकार कर दिया। दमन की गति तेज कर दी गई तथा गाँधी-इर्विन समझौते को व्यवहार रूप में प्रायः दफना दिया गया। मजबूर होकर गाँधीजी ने अपना

सविनय अवज्ञा आंदोलन फिर आरंभ कर दिया। सरकार ने आंदोलन को अपनी पूरी शक्ति के द्वारा एकदम कठोरता के साथ कुचल डालने का निश्चय किया। कांग्रेस कार्य समिति के सदस्य, गाँधीजी तथा अन्य चोटी के नेता तुरंत बंदी बना लिए गए। कांग्रेस को गैर-कानूनी संस्था करार दे दिया गया तथा सभी कांग्रेस कार्यकर्ताओं और शुभचिंतकों तक को भी जेल में डाल दिया गया। गोली, लाठी, मारकाट तथा तरह-तरह की यातनाओं से आतंक का वातावरण पैदा कर दिया गया। सरकार द्वारा पहले से भी कठोर और अन्यायपूर्ण कानून बनाए गए जिनके अंतर्गत केवल संदेह के आधार पर लोगों को जेल में डाला जा सकता था। कांग्रेस के दफ्तरों पर छापे मारे गए, ताले डाल दिए गए तथा कागज-फाइलें और रुपया-पैसा सब जब्त कर लिए गए। सामूहिक जुर्माने, जायदाद की जब्ती, लाठी-चार्ज, गोलीबारी, शारीरिक यातनाएँ देना, नृशंसतापूर्वक सत्याग्रहियों को पीटना आदि रोजाना की घटनाएँ हो गईं। किंतु आंदोलन बढ़ता ही गया। लोगों के दिल का डर, शारीरिक यातनाओं और मृत्यु तक का भय जैसे निकल चुका था। आंदोलन को अभूतपूर्व सफलता मिली। पहले से दो गुने – लगभग सवा लाख – लोग जेल गए।

सांप्रदायिक पंचाट और पूना समझौता

पहले और दूसरे दोनों गोलमेज सम्मेलनों में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व का प्रश्न उठा था किंतु इस विषय में कोई भी फैसला नहीं हो पाया था। डॉ० अम्बेदकर, मोहम्मद अली जिन्ना आदि नेता, इस बात की चिंता किए बगैर कि देश का क्या होगा और राष्ट्र का हित किसमें है, अपने-अपने जातीय और सांप्रदायिक तथा संकुचित दृष्टिकोण से सोचते थे। कांग्रेस और दूसरी संस्थाओं ने समय-समय पर भरसक यह प्रयास किया कि किसी प्रकार देश की सांप्रदायिक समस्या सुलझे और विभिन्न संप्रदायों की सहमति से कोई समझौता हो जाए। किंतु इस क्षेत्र में सफलता के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा ब्रिटिश सरकार थी। वह नहीं चाहती थी कि उसके विरुद्ध राष्ट्रीय आंदोलन की शक्ति बढ़े। अतः जब कभी विभिन्न पक्ष किसी समझौते के करीब पहुँचने वाले होते तभी सरकार किसी एक पक्ष को विशेष रियायतें देकर दूसरों से लड़ा देती और संतुलन फिर बिगड़ जाता।

भारतीय स्वयं आपस में कोई समझौता नहीं कर पा रहे – इसी तर्क की आड़ में ब्रिटिश सरकार ने 16 अगस्त, 1932 को विभिन्न संप्रदायों के प्रतिनिधित्व के विषय पर एक पंचाट प्रकाशित किया जो 'सांप्रदायिक पंचाट' (कम्युल एवार्ड) के नाम से जाना जाता है। इस पंचाट ने पृथक निर्वाचन पद्धति को न केवल मुसलमानों के लिए कायम रखा बल्कि उसे दलित वर्गों के ऊपर भी लागू कर दिया। मुसलमानों, ईसाइयों, सिक्खों, आँग्ल-भारतीयों तथा महिलाओं तक के लिए पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था की गई। श्रम, वाणिज्य, उद्योग, जमींदारों तथा विश्वविद्यालयों के लिए भी पृथक् चुनाव क्षेत्र निर्धारित किए गए। कुल मिलाकर निर्वाचनों को 17 विभिन्न भागों में बाँट दिया गया। योजना

केवल प्रांतीय विधान-मंडलों में ही लागू की जानी थी। केंद्रीय विधान-मंडल के निर्णय का प्रश्न अनिर्णीत छोड़ दिया गया था क्योंकि उसमें देसी रियासतों के प्रतिनिधित्व का भी प्रश्न अंतर्निहित था। पंचाट में पृथक् निर्वाचक-मंडलों को अल्पसंख्यक समुदायों के लिए कायम रखा गया था। बंगाल और पंजाब में मुसलमान बहुमत में थे, पर इन प्रांतों में उनके लिए भी पृथक् निर्वाचक-मंडलों का प्रावधान किया गया था। जिन प्रांतों में मुसलमान अल्पसंख्या में थे, वहाँ उनके लिए 'गुरूभार' (वेटेज) की व्यवस्था थी। पंजाब में हिंदुओं तथा सिक्खों को गुरूभार दिया गया था। बंबई में मराठों के लिए स्थान आरक्षित किए गए थे। कुछ हद तक तो यह 'योजना 'स्थूल रूप से वर्तमान व्यवस्था की ही पुनरावृत्ति' थी। लेकिन उसमें 'दो नई बातें' थीं। (1) उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत के अलावा प्रत्येक प्रांतीय विधान-मंडल में प्राय: तीन प्रतिशत स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित रखे गए थे: (2) दलित वर्गों को एक अल्पसंख्यक वर्ग मान लिया गया था और उन्हें पृथक् निर्वाचक-मंडलों का निर्णय करने का अधिकार दिया गया था। इसके अलावा उन्हें साधारण निर्वाचन-क्षेत्रों में मत देने का भी अधिकार दिया गया था।

दलित वर्ग के लोगों के लिए पृथक् चुनाव क्षेत्रों की योजना के पीछे अँग्रेजी कूटनीतिज्ञों की यह चाल थी कि उन्हें हिंदुओं से अलग कर दिया जाए। पंचाट की कड़ी आलोचना हुई जो स्वाभाविक थी, क्योंकि वह सचमुच मुसलमानों, यूरोपीयों और ईसाइयों के प्रति पक्षपातपूर्ण था तथा हिंदुओं के साथ न्याय नहीं करता था। उदाहरणत: बंगाल में हिंदू कुल आबादी के 44.8 प्रतिशत थे किंतु उन्हें केवल 32 प्रतिशत स्थान दिए गए थे। मुसलमान बंगाल की कुल आबादी का 54.8 प्रतिशत थे किंतु उन्हें 47.6 प्रतिशत स्थान दिए गए थे। यूरोपीयों को जो कुल जनसंख्या का केवल .01 प्रतिशत थे, 10 प्रतिशत स्थान दिए गए थे। बंगाल और पंजाब में हिंदू अल्पसंख्यक समुदाय थे किंतु उन्हें कोई गुरूभार नहीं दिया गया। भारतीय समाज के जितने तरह के विभाजन संभव दिखाई दिए थे वे सभी पंचाट ने करने का प्रयास किया। इस प्रकार पंचाट पृथकतावादी शक्तियों को प्रोत्साहन देता था तथा राष्ट्रीय एकता की भावनाओं को कमजोर करता था। यह अँग्रेजों की 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति का ही विस्तार था।

दलित वर्गों के लिए पृथक् निर्वाचन-मंडलों के प्रवर्तन का प्रस्ताव महात्मा गाँधी को मान्य नहीं था क्योंकि इससे हिंदूओं के बीच स्थायी फूट पैदा हो जाती। हिंदू समाज विघटित हो जाता और अस्पृश्यता की बीमारी सदा के लिए जड़ जमा लेती। उन्होंने चेतावनी दे दी थी कि वे अपने प्राणों की बाजी लगा कर भी इस प्रकार के प्रयत्न का विरोध करेंगे। किंतु सरकार ने गाँधीजी के निवेदन और चेतावनी पर कोई ध्यान नहीं दिया। अंत में 20 सितंबर, 1932 को दलित वर्गों के लिए पृथक् निर्वाचन-मंडलों की व्यवस्था करने के ब्रिटिशं सरकार के निर्णय के विरोध में गाँधीजी ने जेल के अंदर ही आमरण अनशन आरंभ कर दिया। गाँधीजी के अनशन से देशभर में चिंता छा गई। जनता की प्रतिक्रिया की व्यापकता देखकर सरकार भी घबरा उठी। पृथक् निर्वाचक-मंडलों के

समर्थक डॉ॰ अम्बेदकर जैसे दलित वर्गों के नेताओं और इस व्यवस्था का विरोध करने वाले नेताओं के बीच शीघ्र ही 26 सितंबर, 1932 को एक समझौता हो गया। यह करार सामान्यतः पूना समझौते (पूना पैक्ट) के नाम से विख्यात है। ब्रिटिश सरकार ने इसे सांप्रदायिक पंचाट के रूप में स्वीकार कर लिया और लागू कर दिया। समझौते में व्यवस्था की गई थी कि प्रांतीय विधान-मंडलों के साधारण स्थानों में से दलित वर्गों के लिए प्रांतवार कुछ निश्चित स्थान आरक्षित कर लिए जाएँ और सारे प्रांतों में इस प्रकार कुल मिलाकर 148 स्थान आरक्षित किए जाएँ। केंद्रीय विधान-मंडल में ब्रिटिश भारत के लिए निर्धारित सामान्य स्थानों में से 18 प्रतिशत दलित वर्गों के लिए आरक्षित रखे जाएँ। इन आरक्षित स्थानों का निर्वाचन दो स्तरों में होना निश्चित हुआ। पहले स्तर में सामान्य निर्वाचन क्षेत्र में दलित वर्ग के सारे मतदाता प्रत्येक आरक्षित स्थान के लिए दलित वर्ग के चार उम्मीदवारों को चुनते और इसके बाद सामान्य निर्वाचक-मंडल इन चार उम्मीदवारों में से ही किसी एक उम्मीदवार को अंतिम रूप से चुनता। इस प्रकार पूना समझौते में स्वीकृत निर्वाचन पद्धति पृथक् और संयुक्त निर्वाचनों के बीच का मार्ग थी। दलित वर्गों को सांप्रदायिक पंचाट ने जितने स्थान दिए थे, पूना समझौते ने उससे लगभग दो गुने स्थान उन्हें दिए। यह उनका निर्वाचन अन्य हिंदुओं के साथ संयुक्त रखने की कीमत थी।

अवज्ञा आंदोलन का स्थगन और विधान-मंडलों में पुनः प्रवेश

पूना समझौते पर हस्ताक्षर होने के बाद गाँधीजी ने अछूतों के प्रति हिंदुओं के दुर्व्यवहार पर पश्चात्ताप तथा हरिजन सेवा में लगे कार्यकर्ताओं के प्रति देश से अस्पृश्यता को समूल नष्ट करने के आग्रह स्वरूप, 8 मई, 1933 को 21 दिन का उपवास प्रारंभ किया। उपवास प्रारंभ होते ही गाँधीजी को बिना शर्त जेल से छोड़ दिया गया। जून, 1933 में गाँधीजी ने अवज्ञा आंदोलन के स्थगन का आदेश दिया। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि व्यक्तिगत सत्याग्रह चलता रहेगा। गाँधीजी पुनः गिरफ्तार कर लिए गए और दोबारा फिर उपवास आरंभ करने पर ही उन्हें छोड़ा गया। गाँधीजी ने देखा कि आंदोलन में हिंसा का पुनः प्रवेश हो रहा है, सरकार के अत्याचार और लोगों की पीड़ा बढ़ रही है, संप्रदायवादी लोग आंदोलन को गलत रास्तों पर ले जाने की कोशिश कर रहे हैं तथा कार्यकर्ताओं के हौसले ढीले पढ़ गए हैं। ऐसी दशा में अप्रैल, 1934 में सत्याग्रह आंदोलन भी स्थगित कर दिया गया। यद्यपि जवाहरलाल नेहरू और सुभाष बोस जैसे युवा नेताओं ने स्थगन का विरोध किया, तथापि अगले ही माह, मई, 1934 में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने कांग्रेस के सदस्यों को विधान-मंडलों के लिए चुनाव लड़ने की एक बार फिर अनुमति दे दी। पहली बार बाकायदा उम्मीदवारों का चयन किया गया और चुनाव लड़े गए। सरकार ने कांग्रेस संगठन से पाबंदी उठा ली। चुनावों में कांग्रेस की भारी और

व्यापक विजय हुई। पंजाब को छोड़कर सभी प्रांतों में कांग्रेस ने एक बार फिर अपनी लोकप्रियता सिद्ध कर दी।

तीसरा गोलमेज सम्मेलन

नवंबर-दिसंबर, 1932 में लंदन में तीसरा गोलमेज सम्मेलन हुआ। इसमें भारत से कांग्रेस का कोई प्रतिनिधि नहीं गया। उधर ब्रिटेन में श्रमिक दल ने भी इस सम्मेलन में भाग लेना स्वीकार नहीं किया। भारत में इसी समय कांग्रेस और अँग्रेज सरकार के बीच घोर संघर्ष चल रहा था–इधर से अवज्ञा आंदोलन और उधर से पूरी शक्ति के साथ दमन। ब्रिटेन में अब पूरी तरह से अनुदार दल की सरकार थी। मैकडॉनल्ड भी अब प्रधानमंत्री न रहे थे। नई सरकार ऐसा कोई सुधार करने को तैयार नहीं थी जिससे भारतीयों को अधिक अधिकार मिलें और भारत पर अँग्रेजों का राजनीतिक और आर्थिक आधिपत्य किसी भी प्रकार कमजोर पड़े। सांप्रदायिक पंचाट से उसके इरादे पहले ही साफ हो चुके थे। फिर भी, तीसरे गोलमेज सम्मेलन में विभिन्न उप-समितियों की रिपोर्टों पर विचार किया गया और भारत के लिए नए संविधान के प्रारूप के बारे में कुछ निर्णय लिए गए। सम्मेलन के समापन पर भारत-सचिव ने घोषणा की कि प्रस्तावित संविधान में जो व्यवस्था होगी उसके अनुसार (1) संख्या और आबादी दोनों दृष्टियों से लगभग आधे देसी राज्यों के संघ में मिलने के लिए तैयार हो जाने पर संघ-व्यवस्था का सूत्रपात हो सकेगा, (2) केंद्रीय विधान-मंडल में ब्रिटिश भारत के स्थानों में से $33\frac{1}{2}$ प्रतिशत स्थान भारतीय मुसलमानों को मिलेंगे, और (3) सिंध और उड़ीसा दो नए प्रांत बनाए जाएँगे।

मार्च, 1933 में ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत-पत्र प्रकाशित किया जिसमें नए संविधान के प्रस्तावों को लेखबद्ध किया गया था। प्रस्तावों में संघात्मक व्यवस्था और प्रांतीय स्वायत्तता का प्रावधान था। केंद्रीय और प्रांतीय दोनों स्तरों पर विशेष उत्तरदायित्व और रक्षोपाय कार्यपालिका के हाथों में सुरक्षित रखे गए थे। यहाँ एक ध्यान देने की बात है कि जहाँ गाँधी-इर्विन समझौते में रक्षोपाय 'भारत के हित में' होने थे, वहाँ श्वेत-पत्र के अनुसार वे 'भारत और ब्रिटेन दोनों के समान हित में' होने थे। नए भारत-सचिव सेम्युअल होर ने हाउस ऑफ कॉमंस में बोलते हुए 21 मार्च, 1933 को कहा कि "श्वेत-पत्र की योजना भारत को स्वशासन देने की योजना नहीं है, वह तो भारत में सांविधानिक प्रगति की दिशा में एक नई किश्त है।" इस परिवर्तन से सांविधानिक सुधारों की योजना का सारा संदर्भ ही बदल गया। स्वाभाविक था कि इन प्रस्तावों की बडी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। इनसे कोई भी संतुष्ट न था। संभवत: इसीलिए इन प्रस्तावों पर आगे विचार करने के लिए तथा पूरी योजना का परीक्षण करने के लिए ब्रिटिश संसद ने दोनों सदनों की एक संयुक्त प्रवर समिति बनाई। समिति में बहुमत अनुदार दल का था और उसके अध्यक्ष थे लार्ड लिनलिथगो। समिति के सामने गवाहों के रूप में ब्रिटिश भारत और देसी राज्यों के प्रतिनिधियों को उपस्थित होने का निमंत्रण दिया

गया। नवंबर, 1934 में इस समिति की रिपोर्ट में यह दोहराया गया कि संघ की स्थापना तभी हो सकेगी जब कम से कम 50 प्रतिशत देसी राज्य उसमें शामिल होने को तैयार हो जाएँ। इसके अतिरिक्त, केंद्रीय विधान-मंडल के लिए परोक्ष निर्वाचन, देसी राज्यों के प्रतिनिधियों का नरेशों द्वारा नामाकंन, उच्च सदन समाप्त करने की शक्ति ब्रिटिश संसद के हाथों में रखने आदि के प्रावधान कुछ ऐसे थे जो श्वेत-पत्र में दी गई योजना से भी खराब थे। यह सब ऐसी बातें थीं जो भारतीय जनमत और राष्ट्रीय नेतृत्व को किसी भी प्रकार पसंद आने वाली न थीं। फिर भी, संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश संसद ने एक विधेयक का प्रारूप बनाया जो संसद में पास होने और सम्राट की अनुमति पाने के बाद अगस्त, 1935 में कानून बन गया। यही 1935 का भारतीय शासन अधिनियम था।

1935 का भारतीय शासन अधिनियम

1935 के भारतीय शासन अधिनियम की विशेषता यह थी कि उसने 'भारत का संघ' स्थापित करने का सुझाव दिया। यह संघ (क) ब्रिटिश भारत के प्रांतों, और (ख) उन देसी रियासतों के जो उसमें स्वेच्छा से शामिल होतीं, मिलने से बनता। प्रस्तावित योजना की सबसे बड़ी विलक्षणता थी उसमें सुझाई गई संघीय व्यवस्था का स्वरूप। 1930 के गोलमेज सम्मेलन के समय तक भारत पूर्णतया एकात्मक राज्य था और प्रांतों के पास जो भी शक्तियाँ थीं वे सब उन्हें केंद्र से मिली थीं अर्थात् प्रांत केंद्रीय सरकार के अभिकर्ता मात्र थे। 1935 के अधिनियम ने पहली बार व्यावहारिक रूप में एक ऐसी संघात्मक व्यवस्था की बात रखी जिसमें ब्रिटिश भारत के गवर्नर वाले प्रांत ही नहीं, मुख्य आयुक्त (चीफ कमिश्नर) वाले प्रांत तथा देसी राज्यों का भी समावेश होता।

1935 के भारतीय अधिनियम ने, 1919 के अधिनियम द्वारा प्रांतों में लागू किए गए द्वैध शासन को अब केंद्रीय स्तर पर लागू करने और आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना करने का प्रावधान किया। अधिनियम ने केंद्रीय प्रशासनिक क्षेत्र को आरक्षित और हस्तांतरित दो भागों में बाँटना तय किया - (i) प्रतिरक्षा, (ii) वैदेशिक मामले (iii) धार्मिक मामले (ईसाई धर्म संबंधी), तथा (iv) कबाइली क्षेत्र आरक्षित विषय थे। आरक्षित विषयों का शासन गवर्नर-जनरल अपने कार्यकारी पार्षदों की सहायता से अपने विवेक के अनुसार करने को था।

अधिनियम ने बर्मा को भारत से अलग कर दिया और केंद्र में प्रस्तावित संघीय शासन प्रणाली को ध्यान में रखते हुए ग्यारह गवर्नर शासित प्रांतों को सीधे राजमुकुट से प्राप्त शक्तियों तथा सत्ता से आभूषित कर दिया। अधिनियम में प्रांतीय स्वायत्तता की जो योजना स्वीकार की गई थी उसके अंतर्गत प्रत्येक प्रांत में एक कार्यपालिका तथा विधान-मंडल की व्यवस्था की गई थी। प्रांतीय सरकार को 'प्रांत के भीतर एक सुनिर्दिष्ट क्षेत्र में अनन्य प्राधिकार प्राप्त था' और 'उस अनन्य प्रांतीय क्षेत्र में वह मोटे तौर पर संघीय सरकार और विधान-मंडल के नियंत्रण से स्वतंत्र थी।'

1935 के अधिनियम ने प्रांतीय विधान-मंडलों को बहुत से नए अधिकार प्रदान किए। अब मंत्री-परिषद विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी थी। विधान-सभा अविश्वास प्रस्ताव पास कर मंत्रि-परिषद् को हटा सकती थी। प्रशासन पर, प्रश्नों और पूरक प्रश्नों के द्वारा भी विधान-मंडल कुछ नियंत्रण रख सकता था। बजट पर भी अब विधान-मंडल का काफी नियंत्रण हो गया था। लगभग 80 प्रतिशत अनुदान की माँगों को विधान-सभा में मतदान के द्वारा स्वीकारा-अस्वीकारा जा सकता था। विधान के क्षेत्र में विधान-मंडल प्रांतीय और समवर्त्ती सूचियों में शामिल विषयों पर कानून बना सकते थे। समवर्त्ती सूची के विषयों पर यदि केंद्र और प्रांत के बनाए कानूनों में विरोध हो तो केंद्रीय कानून को ही मान्यता दी जाती।

1935 के भारतीय शासन अधिनियम की योजना का संघीय भाग नितांत अव्यावहारिक तथा अमान्य था। वैसे भी, जब कम से कम आधी जनसंख्या वाले देसी राज्य संघ में शामिल होने के लिए तैयार होते तभी ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों की प्रार्थना पर, सम्राट संघ की स्थापना की घोषणा कर सकते थे। देसी राज्यों के नरेशों ने संघ योजना को अस्वीकार कर दिया और चूँकि आधे देसी राज्यों के शामिल होने की शर्त पूरी नहीं हो सकी अत: 1935 के अधिनियम की संकल्पना का भारत संघ अजन्मा ही रह गया और अधिनियम का संघीय भाग कभी कार्य रूप में परिणत नहीं किया जा सका। इसके विपरीत अधिनियम का प्रांतीय भाग 1 अप्रैल, 1937 को प्रवर्त्तन में आ गया। इससे पहले, फरवरी 1937 में नए शासन विधान के अधीन निर्वाचन हुए।

कांग्रेस को मद्रास, संयुक्त प्रांत, बिहार, मध्य प्रांत तथा उड़ीसा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। उसे बंबई में प्राय: आधे स्थान मिले और असम तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में वह सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। बंगाल तथा सिंध में अनेक छोटे-मोटे गुटों का आविर्भाव हुआ। निर्वाचनों के परिणाम मुसिलम लीग के अनुकूल नहीं रहे। सभी विधान-मंडलों में उसकी शक्ति इतनी सीमित थी कि वह किसी भी प्रांत में सक्रिय भूमिका का निर्वाह नहीं कर सकती थी।

निर्वाचनों और उनके परिणामों पर टिप्पणी करते हुए, जवाहरलाल नेहरू ने मार्च, 1937 में कहा था:

> "सरकार ने बड़ी सावधानी और ममता के साथ भारत में बड़े-बड़े निहित स्वार्थों को पाला था, बड़े-बड़े जमींदारों और संप्रदायवादियों को प्रोत्साहित किया था, उनकी सहायता की थी ताकि वे संगठित होकर हमारा विरोध कर सकें। उसने विश्वासपूर्वक आशा की थी कि उसकी कुत्सित योजना सफल होगी। किंतु, भारत में साम्राज्यवाद के स्तंभ, भारतीय जनता के शोषक, वे लोग अब कहाँ हैं? वे ऐसे डूबे कि उनका नामों-निशान न रहा, भारतीय मानवता के सागर में उन्हें अभिभूत कर दिया गया, जनता की भारी झाड़ू ने राजनीति के रंगमंच से उन्हें समेट कर फेंक दिया। वास्तविकता का स्पर्श होते ही, ताश के पत्तों के घर के समान वे ढह

गए। और भी जो लोग भारत की स्वाधीनता का विरोध करेंगे उनका यही हाल होगा और वह दिन आएगा जब ब्रिटिश साम्राज्यवाद हमारी जनता का गला न घोट सकेगा, उसके दमन का अंत हो जाएगा और वह हमारे लिए एक बीते हुए सपने की समृति-मात्र रह जाएगा। हम अपने आम लोगों के पास गए और उनसे स्वाधीनता की तथा उनका शोषण समाप्त करने की बात की। हम पर बिसराए हुए जंतु के पास गए जिसका नाम है भारतीय किसान; हमने याद किया कि उसकी गरीबी भारत की बुनियादी समस्या है; हमने अपने को उसके दु:ख के साथ अभिन्न कर लिया और उससे बात की कि किस प्रकार राजनीतिक और सामाजिक स्वतंत्रता के द्वारा उसे दु:ख से छुटकारा मिल सकता है।..... वह और उस जैसे लोग भारी संख्या में हमें सुनने को एकत्र हुए, कांग्रेस का संदेश सुनकर उनकी धँसी हुई आँखों में चमक आई, उनका सूखा-भूखा शरीर उत्साह के साथ उठ खड़ा हुआ और आशा की मदिरा उनकी रगों में फैल गई। कौन है जिसने यह दृश्य देखा हो, इसे कभी भूल सकता है....?"

यद्यपि कांग्रेस नए अधिनियम के उपबंधों से संतुष्ट नहीं थी, फिर भी अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने 18 मार्च, 1927 को कांग्रेस-बहुल प्रांतों में मंत्रिमंडल बनाने के पक्ष में एक प्रस्ताव पास कर दिया। लेकिन इसमें यह शर्त थी कि गवर्नर यह वचन दें कि वे मंत्रियों के सांविधानिक कार्यों में तथा दिन-प्रतिदिन के प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, उनके परामर्श की अवहेलना नहीं करेंगे तथा अपनी शक्तियों का प्रयोग मंत्रिपरिषद की मंत्रणा पर ही करेंगे। क्योंकि गवर्नरों ने इस प्रकार का आश्वासन देना स्वीकार नहीं किया, अत: कांग्रेसी नेताओं ने विभिन्न प्रांतों में मंत्रिमंडल बनाने के गवर्नरों के आमंत्रण ठुकरा दिए। इन प्रांतों में अंतरिम मंत्रिमंडल बनाए गए पर वे काम नहीं चला सके। बाद में भारत-सचिव की अनुमति से गवर्नर-जनरल लार्ड लिनलिथगो ने 22 जून, 1937 को यह घोषणा की कि 'गवर्नरों से यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वे दिन-प्रतिदिन के प्रशासन में हस्तक्षेप करें, उनके विशेष उत्तरदायित्व असाधारण शक्तियों के रूप में हैं न कि लोकप्रिय मंत्रिमंडलों के काम में बाधा डालने के लिए।" वायसराय ने अन्य बातों के साथ साथ यह भी घोषणा की कि "इस विचार का कोई आधार नहीं है कि गवर्नर को विशेष रूप से जो उत्तरदायित्व सौंपे गए हैं, वह उनके सीमित क्षेत्र के बाहर जाकर प्रांत के दिन-प्रतिदिन के प्रशासन मं सार्थक हस्तक्षेप कर सकता है या करेगा।" विशेष उत्तरदायित्वों के संबंध में भी गवर्नर से यह उम्मीद की जाती थी कि वह "अपने मंत्रियों को अपनी सम्मति का बना लेंगे। जो विषय मंत्रियों के क्षेत्र में आते थे उनके संबंध में गवर्नर के लिए यह आवश्यक था कि वह 'अपने मंत्रियों के परामर्श के अनुसार' कार्य करे।" यद्यपि वायसराय का आश्वासन इतना स्पष्ट तो नहीं था जैसा कांग्रेस चाहती थी लेकिन जिन परिस्थितियों में यह वक्तव्य दिया गया था, उनमें आशा की जाती थी कि गवर्नरों के लिए अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग करना आसान न होगा। 1 जुलाई, 1937 में संबद्ध कांग्रेस दलों

और गवर्नरों के बीच समझौता हो गया, गतिरोध दूर हुआ और कांग्रेस ने जुलाई, 1937 में छह प्रांतों (संयुक्त प्रांत, मद्रास, बंबई, मध्य प्रांत, उड़ीसा, बिहार) में अपने मंत्रिमंडल बनाए। शीघ्र ही, सितंबर, 1937 में पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में भी कांग्रेसी मंत्रिमंडल बन गया तथा सितंबर, 1938 में असम में कांग्रेस के नेतृत्व में एक मिली-जुली सरकार बनी। इस प्रकार आठ प्रांतों में कांग्रेस ने शासन की बागडोर सँभाली। 1937-39 के बीच इन आठों प्रांतों-मद्रास, बंबई, संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत, उड़ीसा, बिहार, असम और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत-में कांग्रेस की सरकार पदारूढ़ रही। पंजाब में सर सिकंदर हयात खाँ के नेतृत्व में एक मिली-जुली सरकार बनी। बंगाल में सरकार के प्रधान थे ए॰ के॰ फ़ज़लुलहक़ जो 'कृषक प्रजा पार्टी' के नेता थे। केवल सिंध में मुसलिम लीग को पूर्ण बहुमत प्राप्त था। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को अपने कार्य में काफी सफलता मिली तथा उन्होंने शासन के उत्तरदायित्वों को सभी जगह अप्रत्याशित कुशलता के साथ निभाया। सब मिलाकर कांग्रेसी प्रांतों में स्वायत्तता का प्रयोग सफल रहा और इससे नेताओं को शासन की समस्याओं और बारीकियों का बहुमूल्य अनुभव प्राप्त हुआ।

गवर्नर पूर्ण सांविधानिक प्रधान तो नहीं बन सके किंतु उन्होंने अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग बहुत कम अवसरों पर किया। गैर-कांग्रेसी प्रांतों में कहानी कुछ भिन्न थी। वहाँ प्रांतीय स्वायत्तता का अनुभव इतना सुखद नहीं रहा क्योंकि वहाँ के गवर्नर अपनी असाधारण शक्तियों का बहुत सामान्य रूप से प्रयोग करते रहे।

अपनी संक्षिप्त पदावधि में कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने इतना काम कर दिखाया जिस पर 'वे उचित ही गर्व कर सकते थे।' सभी कांग्रेस प्रांतों में समान रूप से एक सुधार यह किया गया कि कृषि-काश्तकारों के अधिकारों की रक्षा की गई और किसानों को ऋण-संबंधी राहत दी गई। शिक्षा के क्षेत्र में महात्मा गाँधी की बुनियादी शिक्षा योजना को लागू कर के प्रारंभिक शिक्षा की समस्या को सुलझाने का प्रयास किया गया। हरिजनों की स्थिति में सुधार करने, नशाबंदी करने, कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देने और ग्राम पंचायतों का पुनरुत्थान करने का भी प्रयत्न किया गया।

सारे कांग्रेस मंत्रिमंडल अक्तूबर-नवंबर 1939 तक सत्तारुढ़ रहे। लेकिन जब ब्रिटिश सरकार ने भारत की सहमति के बिना ही और कांग्रेस की इस माँग का संतोषजनक उत्तर दिए बिना ही कि उसके युद्ध-उद्देश्य क्या हैं और क्या इन उद्देश्यों में ''साम्राज्यवाद का उन्मूलन तथा भारत के साथ एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में व्यवहार भी सम्मिलित है,'' भारत को युद्ध में घसीट लिया गया, तब कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने विरोध स्वरूप त्याग-पत्र दे दिए। कांग्रेस मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र के बाद उड़ीसा, असम और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में कुछ समय तक गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडल कार्य करते रहे थे। अन्य कांग्रेस-बहुल प्रांतों में संबद्ध गवर्नरों ने 1935 के अधिनियम की धारा 93 के अधीन प्रशासन अपने हाथों में ले लिया और वहाँ युद्ध समाप्त होने के बाद तक लोकप्रिय सरकारों का निर्माण नहीं हुआ।

1935 के भारतीय शासन अधिनियम का भारत के सांविधानिक इतिहास में बड़ा

महत्वपूर्ण और स्थायी स्थान है। प्रोफेसर कूपलैंड के अनुसार 1935 का अधिनियम रचनात्मक राजनीतिक विचार की एक महान् सफलता' था और 'उसने भारत के भाग्य का अँग्रेजों के हाथों से भारतीयों के हाथों में स्थानांतरण संभव कर दिया'। किंतु, इंग्लैंड और भारत में भी इस अधिनियम की कड़ी आलोचना हुई। इंग्लैंड में कट्टर अनुदारवादी समझते थे कि अधिनियम के द्वारा भारतीयों को जो अधिकार और उत्तरदायित्व दिए जा रहे हैं वे उनके योग्य नहीं हैं। दूसरी ओर, भारतीय दृष्टिकोण से अधिनियम निरर्थक था क्योंकि उसमें पूर्ण स्वाधीनता ही नहीं डोमिनियम स्टेटस तक के प्रश्न का कोई उल्लेख नहीं था। अधिनियम एक धोखा और मुखौटा था जो भारतीयों के हाथों में कोई वास्तविक शक्ति नहीं सौंपता था। निष्पक्ष ब्रिटिश टीकाकारों तथा श्रमिक दल के नेताओं ने भी इस बात पर बल दिया कि अधिनियम भारत की समस्या का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करता था। एटली ने ब्रिटिश लोकसभा (हाउस ऑफ कॉमंस) में वाद-विवाद में भाग लेते हुए अधिनियम का इस आधार पर विरोध किया था कि इसमें डोमिनियम स्टेटस के लक्ष्य की कोई चर्चा नहीं थी।

1935 के अधिनियम ने देश को एक लिखित संविधान देने का प्रयास किया। किंतु, इस प्रलेख के निर्माण में भारतीय जनता अथवा उसके प्रतिनिधियों का कोई हाथ नहीं था। पंडित नेहरू ने अधिनियम को 'दासता का आज्ञा पत्र' बताते हुए उसकी कठोर आलोचना की थी। उन्होंने कहा था:

> "इस एक्ट से ब्रिटिश सरकार की रजवाड़ों से, जमींदारों से और हिंदुस्तान की दूसरी प्रतिक्रियावादी जमातों से दोस्ती और भी ज्यादा मजबूत हो गई, पृथक् निर्वाचन-पद्धति को इससे बढ़ावा दिया गया और इस तरह अलग होने वाली प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला। इस एक्ट ने ब्रिटिश व्यापार, उद्योग, बैंकिंग और जहाजी व्यापार को, जिनका पहले से ही आधिपत्य था, अब और ज्यादा सुदृढ़ कर दिया। इस कानून के मुताबिक भारतीय राजस्व, फौज और विदेश नीति के सारे मामलों में पूरा नियंत्रण ब्रिटिश हाथों में ज्यों का त्यों बना रहा।"

बहुत सी कमियों के बावजूद, यह नहीं नकारा जा सकता कि 1935 का अधिनियम कुछ मामलों में और सब मिलाकर एक आगे बढ़ा हुआ कदम था। 1935 के अधिनियम के द्वारा भारतीयों को सैकड़ों वर्ष बाद अपने देश के शासन संचालन में साझीदार बनने और उत्तरदायित्वों को संभालने का अवसर मिला। निर्वाचित प्रतिनिधियों के मंत्रिमंडल बने जो विधानमंडलों के प्रति उत्तरदायी थे। देश में पहली बार मुख्यमंत्री और मंत्रिमंडल जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ। मुख्यमंत्री की प्राथमिकता को भी मान्यता मिली यद्यपि कुछ छोटे-मोटे ऐसे अवसर अवश्य आए जिनमें मंत्रियों और गवर्नरों के बीच मतभेद और संघर्ष पैदा हुए। फिर भी कांग्रेसी मंत्रिमंडल वाले प्रांतों में प्राय: गवर्नरों ने मंत्रियों के उत्तरदायित्व और अधिकारों का आदर किया तथा दिन-प्रतिदिन के प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं किया। मंत्रियों ने स्वयं बड़ी योग्यता, निष्पक्षता और निष्ठा के साथ अपना काम किया जिसकी

वजह से सभी ओर से उन्हें प्रशंसा और आदर मिला। भारतीय मंत्रियों की प्रशासनिक योग्यता और कार्यकुशलता देखकर अँग्रेज शासक भी आश्चर्यचकित और प्रभावित हुए बिना न रहे सके। कूपलैंड के अनुसार :

> ''कुल मिलाकर देखा जाए तो कांग्रेस अपने मंत्रिमंडलों की सफलताओं पर न्यायोचित गर्व का अनुभव कर सकती थी। उसके नेताओं ने साबित कर दिया था कि वे काम भी कर सकते हैं और बातें भी, प्रशासन भी कर सकते हें और आंदोलन भी और उनमें तथा उनके अनुयायियों में सामाजिक सुधार के लिए सच्ची लगन है।''

1937 में जिन कांग्रेसी नेताओं ने मंत्रिमंडल बनाए और पद-ग्रहण किए वे देश सेवा की भावना से, ईमानदारी और मेहनत के आदर्शों से तथा जनता की भलाई के लिए कुछ न कुछ ठोस काम कर दिखाने और एक मिसाल कायम करने के लक्ष्य से प्रेरित थे। जनता ने भी पूरे उत्साह के साथ कांग्रेसी सरकारों और उनकी योजनाओं का साथ दिया। हम कह सकते हैं कि प्रांतीय विधान-मंडलों ने लगभग पहली बार 1937 में ही सच्चे अर्थों में विधायी संस्थाओं के रूप में कार्य किया। यदि 1939 में दूसरा महायुद्ध न छिड़ा होता तथा अँग्रेज शासकों से युद्ध संबंधी घोषणा को लेकर कांग्रेस का घोर मतभेद न हुआ होता तो संभवत: कांग्रेसी सरकारें और भी बहुत कुछ कार्य कर सकतीं और सफलता पा सकती थीं।

1935 के अधिनियम का एक दूसरा पक्ष भी था जिसके कारण, उसके द्वारा 'स्वराज' अथवा 'स्वाधीनता' का सपना पूरा न हो सका और न हो सकता था। केंद्रीय सरकार पूरी तरह गैर-जिम्मेदार और निरंकुश बनी रही। वस्तुत: केंद्रीय सरकार में आवश्यक सुधार किए बिना प्रांतों में स्वशासन का कार्यक्रम प्रारंभ करना अँग्रेज कूटनीतिज्ञों की एक कुटिल चाल थी। वे चाहते थे कि देश की एकता में जितनी भी संभव हों, दरारें पड़ें, देश की जनता में भारतीयता की भावना की कमी हो और प्रांतीयता की भावना बढ़े ताकि वे अपने को एक देश का नागरिक समझने की बजाये, अलग-अलग प्रांतों का समझने लगें और भावनात्मक रूप से भी देश सदा के लिए टुकड़ों में बँट जाए। देखा जाए तो अँग्रेजों को अपनी इस नीति में पर्याप्त सफलता मिली और 1935 के तथाकथित 'सुधारों' का परिणाम देश आज तक भोग रहा है।

1938 में कांग्रेस के हरिपुर अधिवेशन में अध्यक्ष पद से बोलते हुए सुभाष चन्द्र बोस ने पैगंबरी सूझ-बूझ और दूरदर्शिता के साथ 1935 के अधिनियम द्वारा प्रस्तावित व्यवस्था का विश्लेषण करते हुए कहा था:

> ''यह तो एक सर्वविदित स्वत: सिद्ध सत्य है कि प्रत्येक साम्राज्य 'फूट डालो और राज करो' की नीति पर आधारित होता है। किंतु, मुझे संदेह है कि संसार में अन्य किसी साम्राज्य ने इस नीति का इतनी निपुणता के साथ अनुसरण किया है जितना ब्रिटेन ने। इस नीति के अनुसार, आयरलैंड की जनता को सत्ता का हस्तांतरण करने से पहले, अल्सर को शेष आयरलैंड से अलग कर दिया गया। इसी प्रकार,

पैलेस्टाइन (फ़िलिस्तीन) के लोगों को कोई भी शक्ति सौंपने से पहले, यहूदियों को अरबों से अलग कर दिया जाएगा। सत्ता हस्तांतरण का प्रभाव मिटाने के लिए कोई न कोई अंदरूनी फूट पैदा कर देना जरूरी है। नए संविधान (1935 के भारतीय शासन अधिनियम) में भी वही विभाजन की नीति एक दूसरे चोले में सामने आती है। इसके द्वारा विभिन्न जातियों को एक दूसरे से अलग करने की तथा उन्हें अलग-अलग खेमों में सीमित करने की कोशिश की गई है। संघीय व्यवस्था में ब्रिटिश भारत के लोकतांत्रिक ढंग से चुने हुए प्रतिनिधियों तथा रियासतों के निरंकुश नरेशों को जोड़ने का प्रयास किया गया है। अगर यह नया संविधान देसी नरेशों के संघ में न शामिल होने के कारण अथवा ब्रिटिश भारत द्वारा विरोध के कारण आखिरी तौर से अस्वीकृत हो जाता है तो मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि ब्रिटिश-बुद्धि कोई न कोई और ऐसी सांविधानिक युक्ति खोज निकालेगी जिसके द्वारा भारत का विभाजन किया जा सके और भारतीय लोगों के हाथों सत्ता दिए जाने को निष्प्रभावी बनाया जा सके।''

8

'भारत छोड़ो' आंदोलन

द्वितीय महायुद्ध, क्रिप्स और वेवेल योजनाएँ

1939–1945

"किसी दिन भाग्य चक्र अँग्रेजों को भारत का साम्राज्य छोड़ने के लिए मजबूर करेगा। किंतु वे कैसा भारत छोड़ कर जाएँगे ? कितना दुःख भरा। जब उनके शासन की सदियों पुरानी धारा सूख जाएगी, तब वे कितनी दल-दल, कितनी कीचड़ छोड़कर जाएँगे।"

–रवीन्द्रनाथ टैगोर

महायुद्ध की घोषणा और कांग्रेस मंत्रिमंडलों का त्यागपत्र

सितंबर 1939 में द्वितीय महायुद्ध का ज्वालामुखी फूट पड़ा। हिटलर द्वारा पोलैंड पर आक्रमण किए जाने पर ब्रिटेन और फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 3 सितंबर, 1939 को ब्रिटिश संसद में ब्रिटेन की ओर से युद्ध की घोषणा करते हुए ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने ब्रिटिश राष्ट्रमंडलों के अन्य सदस्यों से भी वैसा ही करने की अपील की। कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि डोमिनियनों ने अपनी-अपनी संसदों की बैठकों में इस विषय पर विचार करने और निर्णय लेने के बाद युद्ध की घोषणा की। किंतु भारत में स्वयं वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने ही, बिना केंद्रीय अथवा प्रांतीय विधानमंडलों से सलाह किए, बिना केंद्रीय अथवा प्रांतीय विधानमंडलों से सलाह किए, यह घोषणा कर दी कि भारत भी जर्मनी के विरुद्ध ब्रिटेन के साथ लड़ाई में शामिल है। इस प्रकार बिना उनकी रत्तीभर मर्जी के 40 करोड़ लोगों को युद्ध के दावानल में झोंक दिया गया।

उधर ब्रिटिश संसद में जल्दी से एक विधेयक पास कराकर 1935 के भारत अधिनियम में एक ऐसा संशोधन कर दिया गया था जिसके द्वारा केंद्रीय सरकार को प्रांतीय सरकारों पर नियंत्रण रखने की विशेष शक्तियाँ मिल गईं। इस संशोधन के द्वारा प्रांतीय स्वायत्ता अर्थहीन हो जाती, देश पर एक युद्धकालीन तानाशाही आरोपित हो जाती और प्रांतीय सरकारें ब्रिटिश साम्राज्यवाद की असहाय चेरी हो कर रह जातीं। कांग्रेस पहले

से ही भारतीय सैनिकों के बाहर भेजे जाने का विरोध करती रही थी। कांग्रेस ने तथा केंद्रीय विधान-मंडल ने यह माँग की थी कि बिना भारतीयों की अथवा उनके प्रतिनिधियों की राय के भारत को युद्ध के किसी गठबंधन में न जोड़ा जाए और बिना ऐसी राय के भारतीय सैनिकों को किसी भी काम के लिए देश से बाहर न भेजा जाए। भारतीय सेनाओं को पहले भी कितनी ही बार भाड़े के आदमियों की तरह बर्मा, चीन, ईरान और मध्य-पूर्व तथा अफ्रीका के देशों में जनता को कुचलने अथवा उनकी स्वाधीनता छीनने के लिए काम में लाया गया था जिसके कारण वहाँ भारतीयों के विरुद्ध कड़वी भावनाएँ पैदा हुई थीं। एक बार एक मिस्र-निवासी ने पंडित नेहरू को यह कहकर ताना दिया था: 'तुम लोगों ने अपनी ही स्वाधीनता नहीं खोई, तुम तो दूसरों को गुलाम बनाने में भी ब्रिटेन की सहायता करते हो।' बार-बार दिए गए आश्वासनों और राष्ट्रीय विरोध के बावजूद ब्रिटिश साम्राज्य की लड़ाइयाँ लड़ने के लिये भारतीय सैनिक बाहर भेजे जाते रहे। द्वितीय महायुद्ध की घोषणा से पहले पता चला कि भारतीय सेनाएँ पुनः देश से बाहर अदन भेजी गई हैं। इसके विरुद्ध जोरदार आवाजें उठाई गईं। कांग्रेस कार्यकारिणी ने इस नीति के प्रति तुरंत अपना रोष प्रकट किया क्योंकि उसके विचार में यह भारतीय जनमत की, कांग्रेस और विधानमंडल दोनों की, खुल्लमखुल्ला अवहेलना थी। इसके बाद भी और भारतीय सैनिकों को मिस्र, सिंगापुर आदि भेजा गया। 1935 के अधिनियम में संशोधन से कांग्रेस का संदेह और बढ़ गया और अँग्रेजी शासकों के इरादे अधिक साफ दिखाई देने लगे। महायुद्ध में भारत के शामिल किए जाने की घोषणा से तो पराकाष्ठा ही पहुँच गई। ऐसे स्थिति में कांग्रेस ने गाँधीजी की यह राय कि 'युद्ध काल में ब्रिटेन और मित्र देशों को बिना शर्त पूर्ण नैतिक सहयोग दिया जाए' नहीं मानी, वायसराय की निरंकुशता की कार्यवाही की घोर निंदा की और ब्रिटिश सरकार से माँग कि वह अपने युद्ध-लक्ष्य स्पष्ट करे। कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष, मौलाना आजाद ने कहा:

> "राष्ट्रों को युद्ध की अग्नि और रक्तपात में झोंका जा रहा है। क्या हमारे लिए यह उचित है कि इस मृत्यु और विनाश के अंधकार में कूदने से पहले यथार्थ और तर्क से इतना दूर चले जाएँ तथा यह भी न पूछें कि आखिर यह युद्ध क्यों लड़ा जा रहा है और हमारे भाग्य पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा ?"

कांग्रेस का कहना था कि यदि यह दावा सच है कि ब्रिटेन स्वतंत्रता और लोकतंत्र की रक्षा के लिए लड़ाई लड़ रहा है तो उसके लिए उचित यही है कि वह अपने अधीन देशों में साम्राज्यवाद का अंत कर दे तथा भारत को अविलंब स्वाधीन राष्ट्र घोषित कर दे। कांग्रेस के विचार से स्वाधीनता की घोषणा आवश्यक थी क्योंकि स्वाधीनता का आश्वासन प्राप्त होने पर ही भारत की जनता जर्मनी के विरुद्ध युद्ध को अपना समझ सकती थी और उसके अंदर सच्चा उत्साह उत्पन्न हो सकता था। कांग्रेस की प्रमुख माँगें इस समय दो थीं: (1) युद्ध समाप्ति पर भारत को स्वाधीनता देने की तत्काल घोषणा, और (2) युद्धकाल में भारतीयों के हाथों में वास्तविक सत्ता।

महायुद्ध की घोषणा के बाद, कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक 8 से 15 सितंबर तक वर्धा में हुई। वहाँ जो प्रस्ताव पास हुआ उसमें कहा गया था:

"पिछले कई वर्षों में भारत के लोगों ने अनेक आपदाओं का सामना किया है और अपनी स्वाधीनता प्राप्त करने और भारत में एक स्वतंत्र लोकतंत्रात्मक राज्य की स्थापना के लिए अनेक त्याग किए हैं। उनकी सहानुभूति पूर्णतया लोकतंत्र और स्वाधीनता के पक्ष में है। लेकिन भारत ऐसी लड़ाई में साझीदार नहीं हो सकता जिसके बारे में कहा तो यह जाए कि वह लोकतंत्र और स्वतंत्रता के लिए लड़ी जा रही है किंतु स्वयं उसके लिए स्वतंत्रता का निषेध किया जाए और जो कुछ थोड़ी बहुत स्वतंत्रता उसे मिली हुई थी वह भी छीन ली जाए।"

आगे चलकर प्रस्ताव में कांग्रेस के दृष्टिकोण को और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया था :

"यदि यह युद्ध यथावत स्थिति की रक्षा के लिए है अर्थात साम्राज्यवादी बस्तियों, उपनिवेशों, निहित स्वार्थों और विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए है तो भारत का उससे कोई सरोकार नहीं हो सकता। पर अगर प्रश्न लोकतंत्र पर आधारित विश्व व्यवस्था का है तो भारत की उसमें गहरी रुचि है। कार्यकारिणी का विश्वास है कि भारतीय लोकतंत्र का ब्रिटिश या विश्व लोकतंत्र से कोई द्वंद्व नहीं है किंतु भारत के लिए या किसी भी और देश के लिए लोकतंत्र का साम्राज्यवाद और तानाशाही से बड़ा गहरा और कभी समाप्त न होने वाला द्वंद्व है। अगर ब्रिटेन लोकतंत्र की रक्षा और प्रसार के लिए लड़ता है तो उसे अपने उपनिवेशों में साम्राज्यवाद का अंत करना होगा, भारत में पूर्ण लोकतंत्र की स्थापना करनी होगी और भारत की जनता को यह अधिकार देना होगा कि वे अपनी संविधान सभा बनाकर बिना बाहरी हस्तक्षेप के, अपना संविधान तैयार कर सकें, अपने बारे में स्वयं निर्णय कर सकें तथा अपनी नीति स्वयं निर्धारित कर सकें। स्वतंत्र लोकतंत्रात्मक भारत विदेशी आक्रमण के विरुद्ध पारस्परिक रक्षा के लिए स्वेच्छा से और सहर्ष मित्र देशों के साथ सहयोग करेगा, लोकतंत्र और स्वतंत्रता पर आधारित ऐसी विश्व-व्यवस्था के लिए काम करेगा जिसमें संसार के समस्त ज्ञान और उपलब्ध साधनों का उपयोग मानवता की प्रगति और विकास के लिए होगा।"

ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस की स्वतंत्रता संबंधी माँग का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। सम्राट, भारत-मंत्री और वायसराय तीनों ने वक्तव्य दिए किंतु उनके द्वारा पुरानी बातें ही दोहराई गईं। भारत की स्वाधीनता के प्रश्न की कोई चर्चा नहीं की गई। वायसराय ने अपने 18 अक्तूबर, 1939 के वक्तव्य में कहा था कि ब्रिटेन युद्ध में किसी स्वार्थ-सिद्धि के लिए नहीं कूदा वह तो संसार के स्वाधीन राष्ट्रों की शांति और राजनीतिक व्यवस्थाओं की सुरक्षा के लिए लड़ रहा था। वायसराय ने यह भी कहा कि ब्रिटिश सरकार युद्ध के बाद भारतीयों की इच्छाओं के संदर्भ में 1935 के भारतीय शासन

अधिनियम में आवश्यक सुधार करने के लिए तैयार होगी। ब्रिटिश सरकार इस बात के लिए तैयार नहीं थी कि युद्ध के बाद भारत के सांविधानिक स्वरूप के बारे में पहले से ही कोई स्पष्ट आश्वासन देकर अपने को बाँध ले और प्रथम महायुद्ध के बाद के सरकार के रवैये और कारनामों को देखते हुए कांग्रेस अब उसका विश्वास करने के लिए तैयार नहीं थी। गाँधीजी ने कहा कि वक्तव्य से स्पष्ट है कि वही पुरानी 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति ही चलती रहनी है। 'कांग्रेस ने माँगी थी रोटी और मिले पत्थर।' फलतः अक्तूबर-नवंबर, 1939 में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिए। इस प्रकार प्रांतीय स्वायत्तता और उत्तरदायी शासन का प्रयोग समाप्त हो गया तथा कांग्रेसी मंत्रिमंडल वाले प्रांत 1935 के भारतीय शासन अधिनियम की धारा 93 के अनुसार सीधा गवर्नर द्वारा शासित होने लगे।

अगस्त योजना और व्यक्तिगत सत्याग्रह

कांग्रेस मंत्रिमंडलों के त्यागपत्रों के कुछ समय बाद ही कांग्रेस कार्यसमिति ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें भारतीयों के इस अधिकार को स्वीकार करने का अनुरोध किया गया था कि वे अपनी संविधान सभा द्वारा अपने संविधान का निर्णय कर सकते हैं।

"किसी स्वतंत्र देश के संविधान का निर्धारण करने के लिए संविधान सभा ही एकमात्र लोकतंत्रात्मक उपाय है। कार्य-समिति का यह भी विश्वास है कि संविधान सभा ही सांप्रदायिक तथा अन्य कठिनाइयों को सुलझाने का एकमात्र उपयुक्त साधन है.....यह सभा एक ऐसे संविधान का निर्माण कर सकती है जिसमें स्वीकृत अल्पसंख्यक वर्गों के अधिकारों की संतोषजनक रीति से रक्षा की जाएगी और यदि अल्पसंख्यक वर्गों के कुछ अधिकारों के संबंध में आपस में समझौता न हो सका, तो उनको विवाचन (आरबिट्रेशन) के लिए सौंपा जा सकता है। संविधान सभा वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित होनी चाहिए और जो अल्पसंख्यक वर्ग पृथक निर्वाचक मंडल बनाए रखना चाहें, उनके पृथक निर्वाचक मंडल बने रहने चाहिएँ। सभा में विभिन्न अल्पसंख्यक वर्गों के सदस्यों की संख्या उनकी जनसंख्या के अनुसार निर्धारित होनी चाहिए।"

जुलाई, 1940 में कांग्रेस कार्यसमिति ने घोषणा की कि यदि ब्रिटेन उसकी पूर्ण स्वतंत्रता की माँग स्वीकार कर ले और केंद्र में ऐसी अंतर्कालीन राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए तैयार हो जाए जिसे केंद्रीय विधान-मंडल के सभी निर्वाचित तत्वों का विश्वास प्राप्त हो, तो वह देश के रक्षा-संगठन में अपना 'पूरा सहयोग' दे सकती है।

ब्रिटिश सरकार यह भली-भाँति जानती थी कि यदि युद्ध प्रयासों में भारत का पूर्ण सहयोग लेना है तो वह कांग्रेस से समझौता किए बिना संभव नहीं होगा। भारत में तीव्र

रोष उत्पन्न हो गया था, महायुद्ध की आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में, सरकार उससे बहुत परेशान थी। विवश होकर वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने 8 अगस्त, 1940 को ब्रिटिश सरकार की नई नीति की एक घोषणा की जो बाद में "अगस्त प्रस्ताव" के नाम से पुकारी जाने लगी।

इस प्रस्ताव में ब्रिटिश सरकार ने यह स्वीकार कर लिया कि "भारत के लिए संविधान का निर्माण करना मुख्य रूप से भारतीयों की ही जिम्मेदारी" होगी। उन्होंने आश्वासन दिया कि "भारत के नए सांविधानिक ढाँचे का निर्माण करने के लिए भारत के राष्ट्रीय जीवन के मुख्य तत्वों के प्रतिनिधियों के एक निकाय" की स्थापना की जाएगी। लेकिन घोषणा में यह भी कहा गया था कि सम्राट की सरकार "भारत की शांति तथा कल्याण के अपने उत्तरदायित्वों को" ऐसी किसी शासन-प्रणाली को नहीं सौंप सकती "जिसकी सत्ता को भारत के राष्ट्रीय जीवन के विशाल तथा शक्तिशाली तत्व अस्वीकार करते हों।" वर्तमान के संबंध में "कुछ प्रतिनिधिक भारतीयों की नियुक्ति" द्वारा वायसराय की कार्यकारी परिषद के विस्तार तथा एक युद्ध-परामर्श परिषद के निर्माण का सुझाव दिया गया था।

चूँकि 'अगस्त-प्रस्ताव' को प्रमुख राजनीतिक दलों ने स्वीकार नहीं किया अत: वह लागू नहीं किया जा सका। सामान्य रूप से समझा जाता है कि प्रस्ताव में देशवासियों के इस अंतर्भूत अधिकार को स्वीकार कर लिया गया था कि वे अपने भावी संविधान का निर्माण कर सकते हैं, इसलिए यह संकल्प वर्तमान स्थिति से एक कदम आगे था। किंतु, अगस्त प्रस्ताव से कांग्रेस को बिल्कुल संतोष नहीं हुआ। अत: उसे अस्वीकार कर दिया गया और नवंबर, 1940 में महात्मा गाँधी ने अपना सीमित व्यक्तिगत सत्याग्रह आरंभ कर दिया। सत्याग्रह ब्रिटिश सरकार की भारत-नीति के प्रति नैतिक विरोध की प्रतीक-रूप अभिव्यक्ति था। इसमें अहिंसा के पालन पर विशेष बल दिया गया था और केवल कुछ चुने हुए व्यक्तियों को ही सत्याग्रह करने की अनुमति दी गई थी। प्रथम सत्याग्रही के रूप में महात्मा गाँधी ने आचार्य विनोबा भावे को मनोनीत किया। लगभग 25,000 व्यक्ति इस सत्याग्रह में जेल गए। कांग्रेस के प्राय: सभी चोटी के नेता और विधान-मंडलों के सदस्य इसमें शामिल थे।

मुसलिम लीग और पाकिस्तान की माँग

1935 का भारत शासन अधिनियम लागू होने के बाद मुसलिम राजनीति ने एक नया मोड़ लिया। मुसलिम लीग ने प्रतीक्षा की नीति अपनाई और कांग्रेस तथा अँग्रेज सरकार के बीच गहरे मतभेदों से लाभ उठाने की पूरी कोशिश की। मोहम्मद अली जिन्ना ने बहुत चालाकी से काम लिया और वायसराय के साथ खूब सौदेबाजी की। युद्ध प्रयासों में सरकार की सहायता करने के लिए, मुसलिम लीग की ओर से दो शर्तें रखी

गईं। पहली यह कि कांग्रेस-बहुमत वाले प्रांतों में मुसलमानों के साथ 'न्याय' हो और दूसरी यह कि भारत के लिए कोई भावी संविधान मुसलिम लीग की अनुमति के बिना न बनाया जाए। अब तक मुसलिम पृथकतावादियों ने अपनी माँगों को पृथक निर्वाचक-मंडलों, गुरुभार और आरक्षणों तक ही सीमित रखा था। लेकिन 1938 में हिंदू और मुसलिम दो राष्ट्रों का सिद्धांत सामने आया। मुसलिम लीग ने यह दावा करना आरंभ कर दिया था कि भारतीय मुसलमान एक 'समुदाय' नहीं, प्रत्युत एक 'राष्ट्र' हैं और इसलिए उन्हें 'राजनीतिक आत्म-निर्णय' का अधिकार है।

वायसराय के साथ बार-बार भेंट और साँठ-गाँठ के समाचारों के बीच, अगस्त 1940 में मुसलिम लीग ने अपने लाहौर अधिवेशन में 'पाकिस्तान प्रस्ताव' पास किया और मुसलिम बहुसंख्यक प्रांतों का एक अलग पूर्ण प्रभुत्व-संपन्न मुसलिम राज्य स्थापित किये जाने की माँग पेश की। इस राज्य में 'भारत के उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्र' जैसे मुसलिम-बहुल क्षेत्र सम्मिलित होते।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में सांप्रदायिकता का जो विष-वृक्ष भारत में पनप रहा था, उसका पका हुआ फल था पाकिस्तान की माँग। मुसलिम लीग ने अपने जन्म के आरंभ से ही जो-जो पृथकतावादी माँगें प्रस्तुत की थीं, वे सब स्वीकार की जा चुकी थीं और अब मुसलिम जनता पर अपना प्रभाव बनाए रखने का उसके पास एक ही उपाय यह रह गया था कि वह उसके लिए पृथक स्वदेश की माँग प्रस्तुत करे।

पाकिस्तानक की माँग के लिए मुसलिम संप्रदायवादियों की पृथकतावादी नीति के अलावा कुछ और भी तत्व उत्तरदायी थे। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि 1935 का भारत शासन अधिनियम पास होने तक, अथवा 1937 के चुनावों के समय तक कोई भी पाकिस्तान की बात गंभीरता से नहीं करता था। 1933 के श्वेत-पत्र पर जब ब्रिटिश संसद की संयुक्त प्रवर समिति विचार कर रही थी तो अगस्त, 1933 में पाकिस्तान योजना के बारे में पूछे जाने पर मुसलिम प्रतिनिधि-मंडल के नेता यूसुफ़ अली ने कहा था कि यह तो केम्ब्रिज के एक लड़के (रहमत अली) की योजना है जिसे किसी जिम्मेदार आदमी ने नहीं रखा। मोहम्मद ज़फ़रुल्ला ख़ाँ ने भी कहा कि यह "जैसे पहले ही कहा जा चुका है, यह केवल एक कालेज के लड़ने की योजना है और इसमें कुछ नहीं है।" यूसुफ़ अली ने यहाँ तक कहा कि यह योजना 'काल्पनिक और अव्यावहारिक' है। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय बात है कि फिर किस प्रकार और क्यों पाकिस्तान की माँग शीघ्र ही इतना जोर पकड़ गई। यह सब हुआ 1937 के चुनावों के बाद।

1937 के चुनावों में मुसलिम लीग को कोई विशेष सफलता नहीं मिली। 11 प्रांतों में से केवल एक प्रांत (सिंध) में ही वह पूर्ण बहुमत पा सकी। प्रांतीय विधान-मंडलों में सब मिलाकर 492 स्थान मुसलमानों के लिए थे, मुसलिम लीग को इनमें से केवल 109 स्थान ही मिल सके। पंजाब में बहुत से मुसलमानों ने यूनियनिस्ट पार्टी का मंच अधिक पसंद किया और बंगाल में फ़ज़लुल हक़ की प्रजा पार्टी का। उत्तर प्रदेश में भी मुसलिम

लीग को आशा से बहुत कम सफलता मिली जबकि कांगेस की सफलता का स्तर उसकी अपनी आशाओं से भी बहुत ऊँचा रहा। ऐसी स्थिति में मुसलिम लीग का मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था होने का दावा खोखला सिद्ध हुआ।

चुनावों से पहले, कांग्रेस को यह विश्वास नहीं था कि संयुक्त प्रांत में उसे पूर्ण बहुमत मिल जाएगा। वैसे भी संयुक्त प्रांत में कांग्रेस और मुसलिम लीग के नेताओं के आपसी संबंध मित्रतापूर्ण थे। अतः कुछ ऐसा अनौपचारिक समझौता सा हो गया था कि चुनावों के बाद कांग्रेस और मुसलिम लीग की मिली-जुली सरकार बनाई जाएगी। वस्तुतः इस समझौते का स्वरूप काफी व्यापक था और केवल संयुक्त प्रांत तक ही सीमित नहीं था। संभवतः इसी के अंतर्गत, कांग्रेस ने देश भर में 492 मुसलिम स्थानों में से केवल 58 पर अपने उम्मीदवार खड़े किए थे। किंतु जब संयुक्त प्रांत में कांग्रेस को अप्रत्याशित सफलता मिली और वह अकेले ही स्थिर सरकार बनाने की स्थिति में आ गई तो काँग्रेस नेताओं को लगा कि यदि सांप्रदायिक दलों को सत्ता से दूर रखा गया तो उन्हें यथोचित चेतावनी मिल जाएगी और वे पृथकतावादी राजनीति का मार्ग छोड़कर राष्ट्रीय आंदोलन की मूल धारा में आ मिलेंगे।

पंडित नेहरू के मत के अनुसार राजनीति दृष्टि से तथा तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में कांग्रेस का अपने स्पष्ट बहुमत वाले प्रांतों में लीग के साथ मिला-जुला मंत्रिमंडल न बनाने का निर्णय ठीक था क्योंकि प्रगतिशील कार्यक्रम को कार्यरूप देने के लिए और राष्ट्रीय आंदालेन की एकता और अँग्रेजी राज के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा कायम रखने के लिए यह आवश्यक था कि मंत्रिमंडल में पद-लोलुप, प्रतिक्रियावादी लोगों का दल न घुस आए। मिले-जुले मंत्रिमंडल में यह भी स्पष्ट डर था कि कहीं भिन्न विचारधारा वाले सदस्य अलग से गवर्नर-जनरल के साथ षड्यंत्र करके राष्ट्रीय सरकार को ठप्प ही न कर दें। इस सबके बावजूद पंडित नेहरू ने भी यह अवश्य स्वीकार किया है कि इस निर्णय से "सांप्रदायिक प्रश्न पर बहुत बुरा असर पड़ा और उसके कारण बहुत से मुसलमानों में संदेह और पृथकता का भाव पैदा हुआ। इससे बहुत-से प्रतिक्रियावादी तत्वों ने लाभ उठाया और कुछ विशेष वर्गों में अपनी स्थिति मजबूत कर ली।" ऐसी परिस्थितियों में यह स्वाभाविक था कि अँग्रेजी शासकों के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए की गई कांग्रेस और लीग के नेताओं की समझौते की बातें विफल हो गईं।

मार्च, 1937 में जवाहरलाल नेहरू ने एक नई बात सामने रखी थी। उन्होंने कहा था कि अब तक कांग्रेस सांप्रदायिक नेताओं से बातचीत और समझौते करती रही है और उसने इन नेताओं के पीछे आम जनता की ओर ध्यान नहीं दिया। उचित यह होगा कि अब कांग्रेस मुसलिम जनता और बुद्धिजीवियों के साथ सीधा संपर्क स्थापित करे, उनका कांग्रेस दल में स्वागत करे और देश की हर प्रकार की सांप्रदायिकता से रक्षा करे। इसी नीति के अंतर्गत कांग्रेसी मंत्रिमंडल तथा अन्य नेताओं ने एक बड़े पैमाने पर जन-संपर्क

आंदोलन प्रारंभ कर दिया। मुसलिम लीग ने इस आंदोलन को अपने अस्तित्व के लिए ही धमकी समझा।

कांग्रेस को बदनाम करने के लिए मुसलिम लीग ने एक भारी प्रचार-अभियान चलाकर यह शोर मचाना शुरू किया कि हिंदू बहुसंख्यक कांग्रेस-शासित प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडल मुसलमान अल्पसंख्कों के साथ अत्याचार कर रहे हैं और इसलाम खतरे में है। लीग ने एक समिति बनाई जिसने अपनी रिपोर्ट में इस तरक के अनेक आरोप लगाए। मुसलिम लीग के प्रचार का मुसलिम जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा। जब कुछ मुसलिम स्थानों के लिए उप-चुनाव हुए तो मुसलमानों को कुरान की सौगंध खाकर मुसलिम लीग के उम्मीदवारों को वोट देने के लिए कहा गया। परिणाम यह हुआ कि इन उप-चुनावों में मुसलिम लीग को भारी सफलता मिली, कांग्रेस की भारी हार हुई और लीग पहली बार जनता के निकट पहुँची और एक जन-संगठन के रूप में उसका विकास प्रारंभ हुआ।

यद्यपि इस प्रकार लीग अपनी चाल में सफल हुई और उसके द्वारा फैलाई गई मुसलमानों पर अत्याचार की कहानियों का मुसलिम जनता ने प्रायः विश्वास कर लिया। वस्तुतः यह सब कहानियाँ झूठ और मनगढ़ंत थीं। कांग्रेस मंत्रिमंडल के कार्य पर नियंत्रण रखने के लिए बनाए गए संसदीय मंडल के एक प्रमुख सदस्य मौलाना आज़ाद के अनुसार लीग के सारे आरोप एकदम निराधार थे। जिन्ना के वक्तव्य का उल्लेख करते हुए पंडित नेहरू ने कहा कि "राजनीतिक असत्य और अभद्रता की भी कोई सीमा होती है, लकिन सारी सीमाएँ लाँघ दी गई हैं, समझ में नहीं आता अब मैं जिन्ना से बात भी कैसे कर सकूँगा।" वायसराय और विभिन्न प्रांतों के गवर्नरों का भी यही विश्वास था। लीग की रिपोर्ट पर समझदार लोग विश्वास नहीं कर सकते थे। जिन लोगों ने शिकायतें की थीं, कांग्रेस सरकारों ने उन्हें न्यौता दिया कि वे जाँच के लिए ब्यौरा दें या सरकारी सहायता से स्वयं जाँच करें। इसके लिए कोई सामने नहीं आया। मौलाना आज़ाद ने इस विषय में लिखा है :

> "कोई भी ऐसी घटना जिसमें सांप्रदायिक समस्या निहित हो, मेरे सामने रखी जाती थी। अतः मैं अपनी निजी जानकारी के आधार पर और पूर्ण उत्तरदायित्व की भावना के साथ कह सकता हूँ कि मुसलमानों और दूसरी अल्पसंख्यक जातियों के साथ अन्याय के जो आरोप मि॰ जिन्ना और मुसलिम लीग ने लगाए थे, वे एकदम मिथ्या थे। अगर इन आरोपों में से किसी में रत्ती भर भी सत्य होता तो मैं उस अन्याय का प्रतिकार किए बिना न रहता। इस तरह के मसले पर आवश्यक होता तो मैं त्याग-पत्र भी दे सकता था।"

पंडित नेहरू ने कई बार जिन्ना को लिखा कि वे स्पष्ट और निश्चित रूप से बतायें कि लीग क्या चाहती है और कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के विरुद्ध उसे क्या शिकायतें हैं। जिन्ना ने लंबे-लंबे उत्तर दिए किंतु स्पष्ट कुछ नहीं बताया। वस्तुतः वह कुछ भी साफ बताने से सदा बचते रहे। वे तो एक अजीब अनिश्चितता और अस्पष्टता बनाए रखने में

ही अपनी जीत समझते थे। जब वे समझौता चाहते ही न थे तो कांग्रेस के नेता अपनी बेबसी के अनुभव के अतिरिक्त और कर ही क्या सकते थे।

1939 में कांग्रेस ने मुसलिम लीग और जिन्ना को साथ लेने की एक बार फिर कोशिश की और युद्ध प्रारंभ होने के बाद हुई कांग्रेस कार्यकारिणी की पहली बैठक में जिन्ना को निमंत्रित किया गया किंतु वे नहीं आए। बाद में कांग्रेस नेता स्वयं उनसे मिले और एक समान नीति खोजने का प्रयास किया गया किंतु जिन्ना के मन में कुछ और ही था। उन्होंने कांग्रेस पर फिर भारी आरोप लगाए और जब कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्याग-पत्र दिया तो मुसलिम लीग ने मुक्ति दिवस (डे ऑफ डेलिवरेंस), निजात या छुटकारे का दिन मनाए जाने का ऐलान किया।

पाकिस्तान की माँग के जन्म और उत्थान में हिंदू महासभा जैसी हिंदू सांप्रदायिक संस्थाओं का भी योग था। प्रारंभिक अवस्था में महासभा का नेतृत्व पंडित मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय जैसे राष्ट्रवादी नेताओं के हाथ में था। लेकिन धीरे-धीरे, कट्टरपंथी और प्रतिक्रियावादी तत्वों ने महासभा के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदू सांप्रदायिकता मुसलिम सांप्रदायिकता की प्रतिक्रिया थी। उसने सांप्रदायिक विद्वेष की ज्वाला उत्पन्न तो नहीं की, पर उसकी लपटों को अवश्य ऊँचा रखा जिससे मुसलिम-लीगियों को पाकिस्तान की दिशा में सोचने की प्रेरणा मिली। पृथकतावाद की भावना को बढ़ाने में हिंदू सांप्रदायिक संस्थाओं से भी अधिक ब्रिटिश नौकरशाही ने काम किया। अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धन के शब्दों में "पाकिस्तान का विचार आँग्ल-भारतीय नौकरशाही के लिए नया नहीं था।" 1939 में एडवर्ड टॉमसन का ध्यान इस ओर गया कि "कतिपय सरकारी पदाधिकारी पाकिस्तान के विचार के प्रतिं बड़े उत्साही थे।" जब 1940 में मुसलिम लीग ने पाकिस्तान को अपना लक्ष्य घोषित कर दिया, उसके बाद ब्रिटिश सरकार ने हर कदम पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रीति से उसे प्रोत्साहन दिया। मुसलिम लीग की पाकिस्तान की माँग का आधार उसका द्वि-राष्ट्र सिद्धांत था जिसका श्री मोहम्मद अली जिन्ना ने मुसलिम लीग के लाहौर अधिवेशन (1940) में निम्नलिखित शब्दों में निरूपण किया :

> "ये हिंदू धर्म और इसलाम शाब्दिक अर्थ में धर्म नहीं हैं प्रत्युत ये दो पृथक और स्पष्ट सामाजिक अवस्थाएँ हैं। हिंदू और मुसलमान कभी एक संयुक्त राष्ट्र के रूप में रह सकते हैं, यह कोरा स्वप्न है। हिंदुओं और मुसलमानों के धार्मिक सिद्धांत, सामाजिक रीति-रिवाज, दर्शन और साहित्य एक दूसरे से सर्वथा पृथक हैं। उनका परस्पर रोटी-बेटी का संबंध नहीं है। वस्तुतः दोनों की परस्पर विरोधी भावनाओं पर आधारित सभ्यताएँ पृथक-पृथक हैं। जीवन पर दोनों भिन्न प्रकार से विचार करते हैं। दोनों के जीवन-संबंधी दृष्टिकोण में अंतर है। यह स्पष्ट है कि हिंदुओं और मुसलमानों को पृथक-पृथक ऐतिहासिक आधारों से प्रेरणा मिलती है। उनकी पुरातन गाथाएँ, उनके वीर और उन वीरों की कहानियाँ पृथक-पृथक हैं। प्रायः

एक का वीर दूसरे का शत्रु माना गया है और एक की विजय दूसरे की पराजय। ऐसे दो राष्ट्रों को एक राज्य में गूँथने का प्रयत्न अवश्य असंतोष उत्पन्न करेगा और उस शासन व्यवस्था का अंत करके छोड़ेगा जो ऐसा राज्य चलाने का प्रयत्न करेगी।"

स्पष्ट है कि द्वि-राष्ट्र सिद्धांत का आधार धर्म को माना गया था और समझा गया था कि चूँकि हिंदुओं तथा मुसलमानों के धर्म अलग-अलग हैं, इसलिए वे एक संयुक्त राष्ट्र के रूप में गठित नहीं हो सकते। जिन्ना यह भूल गए कि हिंदू-मुसलमान तथा अन्य सभी धर्मावलंबी भारत की हजारों वर्ष से चली आ रही सहनशीलता, सम्मिलन और संश्लेषण की गौरवमयी संस्कृति के समान उत्तराधिकारी हैं, उनके पूर्वज एक थे, उनकी रगों में लहू एक है और धर्म बदलने से राष्ट्र और राष्ट्रीयता नहीं बदल जाया करती। तथाकथित द्वि-राष्ट्र सिद्धांत ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और व्यावहारिक दृष्टि से निराधार था। मुसलिम लीग ने मुसलमानों के लिए जिस पृथक पाकिस्तान की माँग की थी, उसके अंतर्गत उत्तर-पश्चिम में पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत, पंजाब, सिंध और बलूचिस्तान व उत्तर पूर्व में असम और बंगाल सम्मिलित थे। कांग्रेस तो देश के विभाजन के विरुद्ध थी ही, स्वयं मुसलमानों की अनेकों संस्थाओं ने भी पाकिस्तान के आंदोलन का विरोध किया। जमैयतुल-उलेमा-ए-हिंद, मजलिस-ए-अहरार-ए-हिंद, पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत के खुदाई खिदमतगार, बलूचिस्तान के राष्ट्रवादी मुसलिम, अखिल भारतीय मोमिन सम्मेलन और अखिल भारतीय शिया राजनीतिक सम्मेलन आदि संस्थाएँ भारत-विभाजन के विरुद्ध थीं। पर, इस सारे विरोध के बावजूद पाकिस्तान का आंदोलन तेजी से बढ़ता गया। इसके लिए मुख्य रूप से दो कारण उत्तरदायी थे-मुसलिम लीग का अपेक्षाकृत अधिक अशिक्षित, पिछड़ी हुई और कट्टर धर्मांधता में डूबी मुसलिम जनता के बीच सांप्रदायिक प्रचार तथा ब्रिटिश अधिकारियों की पाकिस्तान की माँग के प्रति सहानुभूति।

क्रिप्स योजना

दिसंबर 1937 में विंस्टन चर्चिल ने कहा था :

"ब्रिटिश राष्ट्र का भारत की स्वाधीनता और प्रगति पर से अपना नियंत्रण हटाने का कोई इरादा नहीं है... सम्राट के मुकुट के सबसे अधिक मूल्यवान और जाज्वल्यमान उस हीरे को फेंक देने का हमारा कोई इरादा नहीं है जो अकेला ही और सब स्वशासित उपनिवेशों और अधिकृत प्रदेशों के मुकाबले में ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति और शान को बनाए हुए है।"

द्वितीय महायुद्ध प्रारंभ होने के तथा मई, 1940 में स्वयं प्रधानमंत्री बन जाने के बाद भी चर्चिल के विचारों में परिवर्तन नहीं आया। 1941 में चर्चिल ने फिर स्पष्ट कहा कि "भारत में अपने साम्राज्य को छोड़ने के बाद इंग्लैंड एक बड़ी ताकत नहीं रह

पाएगा।" पंडित नेहरू के शब्दों में "यही तो विकट समस्या थी। हिंदुस्तान ही साम्राज्य था। उस पर अधिकार और उसके शोषण से ही इंग्लैंड को वह शान और ताकत हासिल थी, जिसने उसे एक बड़ी ताकत बना दिया था।" किंतु महायुद्ध के दौरान शीघ्र ही एक ऐसी स्थिति आई जब ब्रिटेन की हालत बहुत खराब और अनिश्चित हो गई और उसे अपने इतिहास की सबसे विषम परिस्थितियों और विपत्तियों का सामना करना पड़ा। 7 दिसंबर, 1941 को जापान अचानक लड़ाई में कूद पड़ा। इससे स्थिति और भी बिगड़ गई। बिजली की तरह तेजी के साथ जापान ने ब्रिटेन के पूर्वी उपनिवेशों को जीतना प्रारंभ कर दिया। कुछ ही महीनों में उसने एक-एक करके फिलीपीन, इंडोनेशिया, मलाया, सिंगापुर, इंडोचाइना और बर्मा को रौंद डाला और नेताजी सुभाष चंद्र बोस की आज़ाद हिंद फौज के साथ वह ब्रिटेन के विशाल भारतीय साम्राज्य का दरवाज़ा खटखटाने लगा। 15 फरवरी, 1942 को सिंगापुर में लगभग 85 हजार बचे हुए ब्रिटिश सैनिकों ने जापानियों के सामने हथियार डाल दिए। लगभग 20 हजार सैनिक पहले ही मारे जा चुके थे या बंदी बना लिए गए थे। अंडमान-निकोबार द्वीपों पर भी जापानी नौसेना का अथवा नेताजी की आज़ाद हिंद फौज का कब्जा हो गया। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक था कि अँग्रेजी शासकों के हाथ-पैर फूल गए और वे घबरा गए। ब्रिटिश सरकार भारत की रक्षा करने में नितांत असमर्थ थी और यह ब्रिटिश संसद में स्वयं चर्चिल ने खुले आम स्वीकार किया था। भारत में भी एक रेडियो प्रसारण तथा संवाददाता सम्मेलन में फरवरी में जनरल मोल्सवर्थ ने स्वीकारा था कि जापानी जहाज हिंद महासागर और बंगाल की खाड़ी तक पहुँच गए हैं तथा उत्तरी-पूर्वी भारत तथा समुद्र-तटवर्ती स्थानों पर हवाई हमले की संभावनाएँ हैं किंतु दो हजार मील लंबी समुद्री सीमा को अथवा इस विशाल युद्धस्थल में सभी स्थानों को बचाना सेना के लिए संभव नहीं होगा। उधर ब्रिटेन में अँग्रेजों की और उनके देश की जान के लाले पड़े हुए थे। जिंदगी और मौत की लड़ाई थी। ऐसी स्थिति में मित्र राष्ट्रों के लिए भारत का पूर्ण स्वैच्छिक सहयोग नितांत आवश्यक हो गया। अमरीका के राष्ट्रपति रुजवेल्ट और आस्ट्रेलिया के प्रधानमंत्री ईवाट ने भारत की स्वशासन की माँग के पक्ष में विचार व्यक्त किए। अमरीका की सरकार ने तो इग्लैंड की सरकार के ऊपर दबाव भी डाला कि वह भारत के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करे। फलत: रंगून के पतन के तीन ही दिन बाद, चर्चिल ने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार ने भारत के राजनीतिक और वैधानिक गतिरोध को दूर करने के लिए युद्धकालीन मंत्रिमंडल के सदस्य सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजने का निश्चय किया है। क्रिप्स को भारत के शुभचिंतकों में तथा भारत की स्वाधीनता के हामियों में समझा जाता था। वे समाजवादी थे और भारत के कई चोटी के राष्ट्रवादी नेताओं से उनके मैत्री-संबंध थे। अत: भारतीय जनता को आशा थी कि क्रिप्स भारत का वैधानिक गतिरोध दूर करने में सफल हो सकेंगे।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स 22 मार्च, 1942 को भारत पहुँचे। उन्होंने विभिन्न पक्षों के

सम्मुख भारतीय समस्या के समाधान के लिए जो प्रस्ताव प्रस्तुत किए और जिन्हें 30 मार्च को प्रकाशित किया गया, उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है–(1) भविष्य से संबंधित प्रस्ताव, और (2) वर्तमान से संबंधित प्रस्ताव। क्रिप्स-प्रस्ताव में भविष्य के संबंध में निम्न योजनाएँ थीं–(क) एक नए भारतीय संघ की स्थापना होगी जिसे स्वशासित उपनिवेश का पूर्ण पद प्राप्त होगा। वह किसी घरेलू या बाहरी सत्ता के अधीन नहीं होगा और यदि वह चाहेगा तो ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल से संबंध भी विच्छेद कर सकेगा। (ख) युद्ध समाप्त होने के तुरंत बाद एक संविधान सभा की स्थापना होगी जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी रजवाड़ों, दोनों के प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे। (ग) इस प्रयोजन के लिए प्रांतीय विधान-मंडलों के निम्न सदनों के सभी सदस्य एक निर्वाचक-मंडल की स्थापना करेंगे और सानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर संविधान सभा का चुनाव करेंगे। संविधान सभा के कुल सदस्यों की संख्या इस निर्वाचक-मंडल के कुल सदस्यों की संख्या का दसवाँ भाग होगी। देशी राज्य भी अपनी जनसंख्या के अनुपात से अपने प्रतिनिधि नियुक्त करेंगे। (घ) ब्रिटिश सरकार इस संविधान सभा द्वारा तैयार किए गए संविधान को केवल तभी कार्यान्वित करेगी जबकि निम्नलिखित शर्तें पूरी होती हों : (i) यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रांत नए संविधान को स्वीकार न करना चाहे, तो उसे वर्तमान सांविधानिक स्थिति बनाए रखने का अधिकार होगा। यदि किसी प्रांत की विधान-सभा 60 प्रतिशत बहुमत से संघ में सम्मिलित होने का निश्चय न करे, तो उसके संघ-प्रवेश का अंतिम निर्णय जन-निर्णय के द्वारा ही हो सकेगा। नई सांविधानिक व्यवस्था में सम्मिलित न होने वाले प्रांतों को सम्राट की सरकार अलग से एक नया संविधान देने के लिए तैयार होगी (ii) ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीय हाथों में सत्ता के हस्तांतरण से संबंधित मामलों के लिए ब्रिटिश सम्राट की सरकार और भारतीय संविधान सभा के बीच एक संधि की जाएगी। इस संधि में उन सारे विषयों का समावेश होगा जो ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीयों के हाथों में सत्ता सौंपने से उत्पन्न होंगे। सम्राट की सरकार ने जातीय और धार्मिक अल्पसंख्यक वर्गों की रक्षा के लिए जो वचन दिए हैं, संधि में उनकी पूर्ति के लिए व्यवस्था की जाएगी। लेकिन भारत संघ ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के अन्य सदस्य-राज्यों के साथ जो संबंध रखना चाहेगा, रख सकेगा। संधि में भारत-संघ की इस शक्ति पर कोई प्रतिबंध नहीं होगा।

क्रिप्स योजना में वर्तमान के संबंध में कहा गया था कि ब्रिटिश सरकार भारत की रक्षा की जिम्मेदारी अपने विश्वयुद्ध प्रयत्नों के अंग के रूप में अपने हाथ में रखेगी। परंतु, प्रमुख भारतीय दलों के नेताओं को अपने देश, ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल तथा मित्र-राष्ट्रों के सलाह-मशविरे में तुरंत और कारगर ढंग से भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जाएगा और इस उद्देश्य से वायसराय की कार्यकारी परिषद् का पुनर्गठन किया जाएगा।

29 मार्च, 1942 को एक संवाददाता सम्मेलन में क्रिप्स ने कहा कि जहाँ तक संभव हो, सुरक्षा को छोड़कर और सभी मामलों में ब्रिटिश सरकार भारतीय हाथों में शक्ति देना चाहती है।

30 मार्च को क्रिप्स ने सीधे भारतीय जनता से अपील की कि उनके प्रस्तावों को मान लिया जाए। उन्होंने कहा कि आने वाले दिनों में होने वाली घटनाओं को वे बड़ी आशा भरी दृष्टि से देखते हैं और यदि बुद्धिमत्ता से काम लिया गया तो भारत की स्वाधीनता और भारत-ब्रिटेन मैत्री पक्की हो जाएगी। भारतीय नेताओं से क्रिप्स की बातचीत लगभग 20 दिन तक चली। कांग्रेस का कहना था कि यदि गवर्नर-जनरल की कार्यकारी परिषद् को समाप्त कर तुरंत ही एक राष्ट्रीय सरकार बना दी जाए और गवर्नर जनरल सांविधानिक प्रधान मात्र रहे तो कांग्रेस सरकार में शामिल होने को तैयार होगी। यद्यपि पहले क्रिप्स ने स्वयं 'राष्ट्रीय सरकार' और 'मंत्रिमंडल' जैसे शब्द-बंधों का प्रयोग किया था, बाद में, कहते हैं चर्चिल के आदेश के अंतर्गत, क्रिप्स को ऐसी व्यवस्था मान्य नहीं रही।

उन्होंने कहा कि ऐसा करने के लिए सांविधानिक संशोधन आवश्यक थे जो युद्धकाल में नहीं किए जा सकते थे। दूसरे राष्ट्रीय विधान-मंडल के अभाव में राष्ट्रीय सरकार किसी के भी प्रति उत्तरदायी नहीं होती और निरंकुश हो जाती। अतः क्रिप्स का सुझाव था कि कांग्रेस फिलहाल गवर्नर-जनरल की कार्यकारी परिषद् में शामिल होना स्वीकार कर ले और ऐसी स्वस्थ परम्पराएँ स्थापित करने का प्रयास करे कि कार्यकारी परिषद् ही मंत्रिमंडल की तरह कार्य करने लगे। युद्धक्षेत्र में ब्रिटेन की बिगड़ती हुई हालत तथा जापान के विरुद्ध भारत की रक्षा करने में ब्रिटिश सरकार की असमर्थता को देखते हुए, कांग्रेस युद्ध के बाद पूरे किए जाने वाले वायदों के आधार पर अब अँग्रेजी शासकों के साथ सक्रिय सहयोग करने के लिए तैयार नहीं थी। वह तत्काल वास्तविक शक्ति का हस्तांतरण चाहती थी। मतभेद का सबसे अधिक जटिल विषय था सुरक्षा विभाग के उत्तरदायित्व का। विभिन्न विकल्पों पर विचार हुआ। इनमें से क्रिप्स द्वारा प्रस्तुत अंतिम विकल्प के द्वारा अँग्रेज कमांडर-इन-चीफ और गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद् में एक नए प्रतिनिधिक भारतीय सदस्य के बीच सेना और सुरक्षा संबंधी उत्तरदायित्वों का बँटवारा कर दिया जाता। बातचीत के बीच अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट के विशेष प्रतिनिधि, लुई जॉनसन, ने भी जवाहरलाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेताओं से बातचीत की तथा समझौता कराने की चेष्टा की। बातचीत 10 अप्रैल तक चली किंतु अंत में, लुई जॉनसन के प्रयत्न भी बेकार गए और उन्हें निराश ही लौटना पड़ा। वाशिंगटन पहुँचकर जॉनसन ने बताया कि उन्हें विश्वस्त सूत्रों से पता चला था कि यदि भारत पर जापान का हमला होता तो ब्रिटिश सरकार कोई विशेष मुकाबला न करती। एक निष्पक्ष प्रेक्षक के रूप में अँग्रेजों की नीयत के बारे में जॉनसन का विश्लेषण महत्वपूर्ण है। उन्होंने कहा:

> ''क्रिप्स मिशन के समय वायसराय तथा अन्य उच्च अधिकारी इस बात पर तुले हुए थे कि भारतीयों को आवश्यक रियायतें न दी जाएँ, उनका आज भी वही मत है। अँग्रेज भारत को खोने के लिए तैयार हैं जैसे उन्होंने बर्मा को खो दिया, लेकिन भारतीयों को कोई रियायतें देने को तैयार नहीं, क्योंकि उन्हें विश्वास है कि युद्ध समाप्त होने पर भारत वापस मिल जाएगा और उनकी स्थिति वही हो जाएगी जो

युद्ध प्रारंभ होने से पहले थी।''

ऐसी स्थिति में इसमें आश्चर्य नहीं हो सकता कि क्रिप्स प्रस्तावों को भारतीय लोकमत के प्रत्येक वर्ग ने अस्वीकार किया। गाँधीजी ने कहा कि क्रिप्स योजना ऐसे बैंक के, जो कि फेल होने जा रहा हो, पोस्ट-डेटेड अथवा आगे की तारीख पड़े चैक के समान थी। पंडित नेहरू के अनुसार उनके पुराने मित्र क्रिप्स 'शैतान के वकील' बनकर आए थे और उनकी योजना के क्रियान्वयन का परिणाम देश के अनगिनत विभाजनों की संभावना के दरवाजे खोल देना होता। क्रिप्स योजना को मुसलिम लीग ने भी यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि इसमें सांप्रदायिक आधार पर देश विभाजन की माँग नहीं मानी गई थी।

राष्ट्रीय विचारधारा के अनुसार क्रिप्स योजना में बहुत से दोष थे। युद्ध के बाद भी भारत को स्वशासित उपनिवेश का दर्जा देने की कोई अंतिम तारीख निर्धारित नहीं की गई थी। कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष, मौलाना आज़ाद के अनुसार उस समय भारतीयों की सबसे बड़ी समस्या और चिंता देश की आक्रमण से सुरक्षा की थी, किंतु युद्धकाल में सबसे महत्वपूर्ण सुरक्षा विभाग को अँग्रेजों ने प्राय: पूर्णतया अपने ही हाथों में रखना चाहा था। प्रस्तावित संविधान सभा में देशी रियासतों के प्रतिनिधि उनके नरेशों द्वारा मनोनीति किए जाने थे। संविधान निर्माण में भाग लेने के बाद भी देशी रियासतें भारतीय संघ में शामिल होने से मना कर सकती थीं। ब्रिटिश भारत का कोई प्रांत भी संविधान को अस्वीकार कर सकता था और इस प्रावधान में देश के विभाजन और पाकिस्तान की माँग को स्वीकृति की संभावना स्पष्ट थी। दूसरी ओर, ब्रिटेन और भारत के बीच प्रस्तावित संधि की शर्तें अस्पष्ट रखी गई थीं।

वस्तुत: क्रिप्स योजना की विफलता का एक मुख्य कारण यह भी था कि इसमें सभी को संतुष्ट करने का प्रयास किया गया था। इसका नतीजा यह हुआ कि कोई भी संतुष्ट नहीं हुआ और राजनीतिक गतिरोध दूर करने के लिए शांतिपूर्ण समझौते का रास्ता और भी कठिन हो गया। फिर भी, इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि असफलता और कितने ही दोषों के बावजूद, क्रिप्स योजना का विकास के एक प्रमुख चरण के रूप में विशेष महत्व है, क्योंकि इसमें पहली बार स्पष्ट रूप से ब्रिटिश सरकार ने भारत का स्वाधीनता का तथा निर्वाचित संविधान सभा द्वारा अपना संविधान स्वयं बनाने का अधिकार स्वीकारा और भारतीय हाथों में सत्ता हस्तांतरण की बात गंभीरतापूर्वक सोची।

कूपलैंड ने लिखा है कि ''जब तक भारत सरकार के ऊपर ब्रिटेन का थोड़ा-भी नियंत्रण था तब तक ब्रिटिश संसद भारत के सांविधानिक विकास के संदर्भ में अपने उत्तरदायित्व से बरी नहीं हो सकती थी। ससंद में 1940 के 'अगस्त प्रस्ताव' से अपने इस दायित्व का परित्याग करना आरंभ किया और 1942 में यह परित्याग अथवा परित्याग का प्रस्ताव पूरा हो गया।''

चूँकि क्रिप्स-प्रस्ताव भारतीय नेताओं - कांग्रेस और मुसलिम लीग दोनों-को अस्वीकार्य थे, अत: उनमें परिकल्पित संविधान सभा की स्थापना नहीं हुई।

'भारत छोड़ो' आंदोलन

जब 11 अप्रैल को क्रिप्स प्रस्ताव अचानक वापस ले लिए गए तो यह अच्छी तरह स्पष्ट हो गया कि क्रिप्स मिशन का सारा तमाशा उन मित्र देशों की, जो भारत की स्वाधीनता की माँग के प्रति सहानुभूति रखते थे, तथा भारतीयों की आँखों में धूल झोंकने का प्रयास था। जिस ढंग से समझौते की बातचीत भंग हुई, उसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश शासकों और भारतीय नेताओं के बीच की खाई और चौड़ी हो गई और सारे देश में सरकार के विरुद्ध असंतोष की लहर जोर पकड़ गई।

महायुद्ध छिड़ने के तुरंत बाद ही सुभाष चंद्र बोस ने युद्ध प्रयत्नों का सक्रिय विरोध शुरु कर दिया था। उन्हें जेल में डाल दिया गया था और बाद में अस्वस्थता के कारण जेल में से निकालकर घर पर ही नजरबंद कर दिया गया था। जनवरी, 1941 में वे पुलिस और सरकार को चकमा देकर देश से बाहर निकल गए। इस सबकी अपनी अलग ही एक बड़ी रोमांचकारी वीर-गाथा है। मार्च, 1942 में बर्लिन रेडियो से देश के नाम सुभाष बोस ने अपना पहला संदेश दिया। वे युद्ध की स्थिति से लाभ उठाकर देश की स्वाधीनता को निकट लाने के पक्ष में थे और इस काम में ब्रिटेन के शत्रुओं से सहायता लेना बुरा नहीं समझते थे। अप्रैल, 1942 के बाद से महात्मा गाँधी के विचारों में भी उग्रता आने लगी। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का तुरंत समाप्त होना आवश्यक है।" "भारत छोड़ो" आंदोलन का विचार उनके मन में जमने लगा और उन्होंने **हरिजन** में एक लेखमाला लिखकर उसे विकसित किया, द्वितीय महायुद्ध के आरंभिक दिनों में गाँधीजी का अपना विचार यह था कि ब्रिटिश सरकार को उसकी मुसीबत के समय और तंग न किया जाए तथा मित्र देशों के युद्ध प्रयासों में नैतिक सहयोग दिया जाए। उस समय कांग्रेस के बहुमतीय उग्र पक्ष ने गाँधीजी की राय नहीं मानी। किंतु अब विशेषकर जवाहरलाल नेहरू को यह चिंता होने लगी थी कि जैसे भी हो नाजी और तानाशाही शक्तियों को परास्त किया जाना चाहिए और ऐसा कुछ नहीं किया जाना चाहिए जिससे मित्र देशों की शक्ति क्षीण हो और विश्व में लोकतंत्र-विरोधी शक्तियों को बल मिले। दूसरी ओर अब गाँधीजी का ब्रिटिश सरकार के वायदों के तथा देश की जापानी आक्रमण से रक्षा करने की क्षमता और तत्परता से विश्वास उठ गया था, वे चाहते थे कि अँग्रेज शासकों को तुरंत भारत से चले जाने के लिए मजबूर किया जाना चाहिए ताकि भारत अपनी समस्याएँ स्वयं सुलझा सके और अपनी रक्षा स्वयं कर सके। राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में संभवत: यह पहला अवसर था जब गांधीजी के विचार जवाहरलाल नेहरू से अधिक उग्र और अधिक ब्रिटिश-विरोधी रूप में सामने आए। अंत में गाँधीजी की विचारधारा की विजय हुई। भारत की सुरक्षा के लिए भारत-भूमि पर अमरीकी सैनिकों को लाए जाने की ब्रिटिश सरकार की कार्यवाही से गाँधीजी को भारी कष्ट हुआ था। अप्रैल, 1942 में **हरिजन** में लिखते हुए उन्होंने कहा:

"मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मैं इस घटना के सामने अपना धीरज रख सकने में असमर्थ हूँ। क्या भारत के करोड़ों लोगों में से असंख्य सैनिक तैयार नहीं किए जा सकते? क्या वे संसार में किसी से भी कम बहादुर हैं? फिर विदेशी क्यों? हम जानते हैं कि अमरीकी सहायता का अर्थ क्या है? अंततः इसका परिणाम होगा अँग्रेजी राज के साथ-साथ अमरीकनों का भी राज; नहीं तो कम से कम अमरीकी प्रभाव, और युद्ध में मित्र देशों की संभावित सफलता के लिए यह एक बहुत भारी कीमत चुकाना होगा। देश की इन तथाकथित सुरक्षा की तैयारियों में मुझे कहीं भी भारतीय स्वाधीनता झाँकती नहीं दिखाई देती।"

गाँधीजी ने यह भी आशा प्रकट की थी कि यदि अँग्रेज भारत को उसके भाग्य पर छोड़कर चले जाएँ जैसे कि उन्हें सिंगापुर छोड़ना पड़ा था, तो अहिंसक भारत को कोई हानि न होगी। संभवतः तब जापानी भी भारत को शांति में छोड़ दें। "अँग्रेजों की भारत में उपस्थिति जापानियों के लिए भारत पर हमला करने का न्यौता है।" यदि प्रमुख दल अपने मतभेद सुलझा लें और आशा है वे सुलझा ही लेंगे तो कदाचित भारत शांति के पथ में चीन की भी कुछ कारगर सहायता कर सके तथा "अंत में विश्व शांति के उन्नयन में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सके। किंतु यह सब बातें शायद तब नहीं हो सकेंगी अगर अँग्रेज तभी जाएँ जब उन्हें जाने के लिए बाध्य होना पड़े।"

20 दिन बाद, मई, 1942 में पुनः **हरिजन** में गाँधीजी ने ब्रिटेन की जनता से सीधे एक अपील की और कहा: "मैं ब्रिटेन के हर एक नागरिक से अनुरोध करता हूँ कि वह मेरी इस अपील में मेरा साथ दे कि अँग्रेजों को एशिया और अफ्रीका में हर जगह से और कम से कम भारत से इसी घड़ी हट जाना चाहिए। यह कदम नाजीवाद और तानाशाही के नाश के लिए तथा संसार की सुरक्षा के लिए आवश्यक है। इसमें जापान का मामला भी शामिल है।"

जब जुलाई में वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई तब तक जापान बर्मा पर, जो 1937 तक भारत का ही अंग था, कब्जा कर चुका था और आजाद हिंद फौज और जापान की सेना असम की ओर बढ़ रही थी। गाँधीजी को लगा कि अब समय आ गया है जब कांग्रेस अँग्रेजों से भारत छोड़ने को साफ-साफ कह दे। अगर अँग्रेज मान गए तो फिर हम जापानियों को ललकारेंगे कि वे आगे न बढ़ें और अगर वे फिर भी बढ़े तो वह हमला भारत पर होगा, अँग्रेजों पर नहीं और हम उसका मुकाबला करेंगे। 14 जुलाई को कार्यकारिणी में जो प्रस्ताव पास हुआ उसमें कहा गया था - क्योंकि अँग्रेज भारत पर अपनी जकड़ किसी तरह भी ढीली नहीं करना चाहते और उन्हें कांग्रेस की न्यूनतम राष्ट्रीय माँगें भी स्वीकार नहीं हैं "ब्रिटेन के विरुद्ध बड़ी तेजी से और बड़े व्यापक रूप से दुर्भावना और जापानी सेना की सफलता पर संतोष की भावना बढ़ी है। कार्यकारिणी इससे बहुत चिंतित है क्योंकि अगर इसे रोका नहीं गया तो इसका अनिवार्य परिणाम होगा - आक्रमण की निष्क्रिय स्वीकृति।" प्रस्ताव में और बातों के साथ-साथ कहा गया था

कि भारत की स्वाधीनता न केवल भारत के हित में आवश्यक है, वरन् विश्व की सुरक्षा तथा नाजीवाद, तानाशाही, सैन्यवाद और अन्य प्रकार के साम्राज्यवादों का तथा एक देश द्वारा दूसरे देश पर आक्रमण का अंत करने के लिए भी उतनी ही आवश्यक है। कांग्रेस ने अब तक बराबर यह कोशिश की थी कि वह ऐसा कोई आंदोलन आदि न करे जो युद्धकाल में सरकार के काम में बाधक हो। साथ ही कांग्रेस को आशा थी कि सरकार भी समझेगी और शीघ्र ही वास्तविक शक्ति भारतीय हाथों में सौंप दी जाएगी ताकि भारत विश्व भर में मानवीय स्वतंत्रता की रक्षा में अपना पूर्ण योगदान दे सके। कांग्रेस को विश्वास था कि कम से कम सरकार ऐसा कोई काम नहीं करेगी जिससे देश पर ब्रिटिश शासन का शिकंजा और मजबूत हो। किंतु यह सब आशाएँ और विश्वास टूक-टूक हो गए। बाँझ क्रिप्स प्रस्तावों से यह स्पष्ट हो गया कि भारत के प्रति अँग्रेजों के दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। कांग्रेस कार्यकारिणी के वर्धा प्रस्ताव से यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस के नेताओं का मस्तिष्क किस दिशा में बढ़ रहा था।

अगस्त, 1942 को तिलक-दिवस पर बोलते हुए पंडित नेहरू ने साफ-साफ शब्दों में घोषणा की : "संघर्ष, निरंतर संघर्ष, मेरा यही उत्तर है एमरी और क्रिप्स को।"

कार्यकारिणी का प्रस्ताव प्रकाशित होते ही जनता में एक बिजली सी दौड़ गई। सबको लगा कि कांगेस अँग्रेजों को भारत से निकालने के लिए एक भारी जन-आंदोलन करने वाली है। जनता और सरकार दोनों ही इसे 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के नाम से पुकारने लगे। स्थिति पर आगे विचार करने के लिए 5 अगस्त को कार्यकारिणी की और 7 अगस्त को बंबई में महासमिति की बैठकें हुईं। काफी वाद-विवाद के बाद काफी रात गए 8 अगस्त को भारी बहुमत से "भारत छोड़ो" प्रस्ताव महासमिति में पास हुआ। केवल कुछ साम्यवादियों ने इसका विरोध किया। प्रस्ताव के विरोध में केवल 13 मत पड़े। इस प्रस्ताव का पास होना ही 1942 के प्रसिद्ध "भारत छोड़ो" आंदोलन का श्रीगणेश था। प्रस्ताव में भारत की स्वतंत्रता की तत्काल स्वीकृति और निरंकुश तथा साम्राज्यवादी ब्रिटिश शासन के अंत की माँग की गई थी और कहा गया था कि यदि ब्रिटिश सरकार स्वतंत्रता की माँग को स्वीकार न करे तो अहिंसात्मक प्रणाली से अधिक से अधिक विशाल पैमाने पर एक ऐसा आंदोलन आरंभ किया जाए जो अंत में भारत की स्वतंत्रता और मुक्ति के द्वार पर पहुँचकर ही दम ले। अल्पसंख्यकों, विशेषकर मुसलमानों के संदेहों को दूर करने के लिए प्रस्ताव में कहा गया था कि स्वाधीन भारत का संविधान संघात्मक होगा जिसमें एककों को अधिकतम स्वायत्तता प्राप्त होगी तथा अवशिष्ट शक्तियों का वास भी एककों में ही होगा। अंत में प्रस्ताव में कहा गया था कि "जब स्वाधीनता मिलेगी और सत्ता भारतीय हाथों में आएगी तो वह सारे देशवासियों के लिए होगी केवल कांग्रेस के लिए नहीं।" गाँधीजी को आंदोलन प्रारंभ करने और उसका नेतृत्व करने का अधिकार दिया गया था। कांग्रेस महासमिति में दिए गए अपने भाषण में महात्मा गाँधी ने स्पष्ट कर दिया कि यह संघर्ष 'करो या मरो' का संघर्ष होगा और भारत

की स्वाधीनता जीतने के लिए उनके जीवन का अंतिम आंदोलन होगा लेकिन यह खुला तथा अहिंसात्मक आंदोलन होगा और इसमें गुप्त कुछ भी न होगा।

अगले ही दिन, 9 अगस्त को बड़े तड़के महात्मा गाँधी तथा कांग्रेस की कार्यकारिणी के अन्य सदस्य गिरफ्तार कर लिए गए। पहले नेताओं को अफ्रीका ले जाए जाने की योजना थी किंतु बाद में उन्हें अहमदनगर के किले में रखा गया। स्थान को प्रारंभ में गोपनीय रखा गया था किंतु एक सप्ताह के भीतर ही सब किसी को इसका पता चल गया। पहले गिरफ्तारियों के विरोध में प्रदर्शन हुए। उन्हें कुचला गया। गोलियाँ चलाई गईं। अश्रुगैस छोड़ी गई। शीघ्र ही जनता की दबी हुई भावनाएँ उबल पड़ीं। फिर तो भीड़ों और पुलिस तथा फौजों के बीच सड़कों पर खुली लड़ाई तक हुई।

"करो या मरो" का नारा देश भर में गूँज उठा। पुराने नेताओं की अनुपस्थिति में आंदोलन का नेतृत्व युवकों ने सँभाला और अँग्रेजी शासन और उसकी निशानियों को मिटाने के लिए उनसे जो कुछ भी बन पड़ा, उन्होंने किया। आंदोलन अहिंसक न रह सका। फौजी लॉरियाँ जलाई गईं। अहमदाबाद, मद्रास, बंगलौर और सहारनपुर आदि में मजदूरों की हड़ताल से फैक्टरियों के बंद हो जाने के कारण लड़ाई का सामान बनना बंद हो गया जिसका युद्ध-प्रयासों पर प्रभाव पड़ा। सभी संचार साधनों को नष्ट करने का प्रयास किया गया। बहुत सी लाइनों पर रेलों का आना-जाना असंभव कर दिया गया। कुछ स्थानों पर तो अँग्रेजी शासन की अर्थी निकाल दी गई तथा युवक नेताओं ने अस्थायी सरकारें बनाईं। जगह-जगह बिजली के तार काटे गए। पुलिस स्टेशन, रेलवे स्टेशन, डाकखाने और अन्य सरकारी इमारतें जलाई गईं। हड़तालें, जलूस और मीटिंगें तथा अश्रुगैस, लाठी चार्ज और गोलीबारी आए दिन की बात हो गई।

1942 के आंदोलन में प्रांतों में सबसे आगे थे बंगाल, बिहार, यू॰पी॰, मद्रास और बंबई (वर्तमान गुजरात और महाराष्ट्र)। किंतु, सच यह है कि सारे देश ने इस आंदोलन में भाग लिया। सारे देश में नई पीढ़ी ने, विशेषकर विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों ने, उग्र और शांतिपूर्ण दोनों ही तरह की कार्यवाहियों में प्रमुख भाग लिया। बहुत से क्षेत्रों में ब्रिटिश शासन बिल्कुल समाप्त हो गया और राष्ट्रीय सरकारें काम करने लगीं। इन क्षेत्रों को पुनः जीतने में कई-कई दिन और कहीं-कहीं तो कई-कई सप्ताह लग गए जैसे कि बंगाल के मिदनापुर जिले में और यू॰पी॰ के पूर्वी जिलों में।

आंदोलन को कुचलने के लिए सरकार ने दमन-चक्र पूरी शक्ति और नृशंसता के साथ चलाया। सरकार गोलाबारी और बमबारी तक करने से नहीं चूकी। सरकारी ब्यौरों के अनुसार 538 बार गोलियाँ चलाई गईं। हवाई जहाजों से भी मशीनगनों के द्वारा कहीं-कहीं गोलियाँ बरसाना जरूरी समझा गया।

हजारों आदमी गोलियों के शिकार हो गए। हजारों घायल हुए और दसियों हजार को जेलों में ठूँस दिया गया। कितनी ही जगह पूरे गाँव को सजा दी गई और उसकी सारी आबादी की जानें कोड़ें मार-मार कर ले ली गईं। कुछ प्रदेशों में कांग्रेसी कार्यकताओं

के मकान जला दिए गए। स्कूलों और कॉलिजों के हजारों विद्यार्थियों को तरह-तरह की सजाएँ दी गईं। युवकों को बुरी तरह पीटा गया। सरकार में सब तरफ अत्याचार और भ्रष्टाचार बढ़ गया। सरकारी अफसरों और पुलिस द्वारा न्यायालयों की खुली अवहेला की जाने लगी। हाउस ऑफ कॉमंस में चर्चिल के वक्तव्य के अनुसार "भारत छोड़ो" आंदोलन का दमन करने के लिए सरकार को अपनी पूरी शक्ति लगानी पड़ी और यह शक्ति थी मुख्यत: भारतीय सैनिकों की, भारतीय अफसरों की और भारतीय पुलिस की। 1857 की तरह 1942 में एक बार फिर अँग्रेजों ने राष्ट्रीय विद्रोह को भारतीयों की ही सहायता से कुचला।

देश भर में आतंक का शासन फैला कर इस तरह किसी प्रकार सरकार खुले विद्रोह को दबाने में तो लगभग तीन माह के भीतर सफल हो गई लेकिन भूमिगत आंदोलन चलता रहा और जयप्रकाश नारायण, अरुणा आसफ़ अली तथा राम मनोहर लोहिया जैसे समाजवादी नेताओं ने उसका मार्गदर्शन किया। सच तो यह है कि 1942 में जो व्यापक "भारत छोड़ो" आंदोलन हुआ वह सच्चे अर्थों में स्वचालित जन-आंदोलन था। जो कुछ हुआ, वह सब सही था या गलत, इस सबका श्रेय अथवा उत्तरदायित्व बहुत कुछ विद्यार्थियों, युवक-युवतियों और इने-गिने समाजवादी नेताओं का ही माना जा सकता है।

1942 के आंदोलन में सबसे शर्मनाक भूमिका साम्यवादी दल की रही। जब तक रूस ने महायुद्ध में मित्र-राष्ट्रों की ओर से प्रवेश नहीं किया था तब तक साम्यवादी दल महायुद्ध को साम्राज्यवादियों का युद्ध कहता रहा तथा भारत में भी अँग्रेजी शासकों का तथा युद्ध-प्रयासों का कड़ा विरोध करता रहा; किंतु जैसे ही हिटलर ने रूस पर हमला किया और रूस मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में कूदा, वैसे ही रातों-रात भारत के साम्यवादी दल का दृष्टिकोण एकदम बदल गया और उसने महायुद्ध को जन-युद्ध अथवा "पीपुल्स वार" कहना प्रारंभ कर दिया। साम्यवादी नेताओं को जेल से छोड़ दिया गया। काँग्रेस नेताओं के जेल में पड़े होने का पूरा फायदा उठाकर साम्यवादियों ने इस काल में अपना संगठन और शक्ति खूब बढ़ाई। सरकार की ओर से भी उन्हें प्रोत्साहन मिला क्योंकि साम्यवादियों ने युद्ध-प्रयासों में सरकार की मदद करने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी थी। साम्यवादी दल ने मुसलिम लीग के साथ भी साँठ-गाँठ की और दोनों ने मिलकर कांग्रेसी नेताओं की अनुपस्थिति से तथा अँग्रेज शासकों के सहयोग से पूरा लाभ उठाने की कोशिश की। 1937 में जो मुसलिम लीग एक भी प्रांत में अपनी सरकार न बना सकी थी अब पाँच प्रांतों में पदासीन हो गई। साम्यवादी दल ने मुसलिम लीग की पाकिस्तान की माँग का समर्थन किया। साम्यवादियों को इस नीति से और जो भी लाभ हुए हों, वे राष्ट्रीय आंदोलन की मूलधारा से दूर जा पड़े, उन्हें कुछ निरादर की दृष्टि से देखा जाने लगा तथा उनके 1942 के आंदोलन के समय किए गए कामों को विश्वासघात और देशद्रोह माना गया।

सरकार की एक घोषणा के अनुसार उसके पास जो सबूत थे उनसे पता चला कि स्वयं गाँधीजी और काँग्रेस के अन्य शीर्षस्थ नेताओं ने हिंसा के कार्यों को प्रोत्साहित किया। यद्यपि मौलाना आज़ाद ने 1959 में प्रकाशित अपनी पुस्तक में खुले आम कहा कि उन्होंने गिरफ्तारी से पहले कांग्रेस कार्यकर्ताओं को, हिंसा अथवा अहिंसा जैसे भी हो, सरकार का विरोध करने की सलाह दी थी फिर भी जहाँ तक गाँधीजी का प्रश्न था यह सब असत्य था, गाँधीजी और उनके अहिंसा के आदर्श को बदनाम करने के लिए एक कपोलकल्पना मात्र। ऐसे निराधार आरोपों से दु:खी होकर, और कोई रास्ता खुला न देख, गाँधीजी ने 10 फरवरी, 1943 को आग़ाख़ाँ पैलेस में, जहाँ वह नजरबंद थे, 21 दिन का उपवास किया। उपवास के बीच गाँधीजी की हालत काफी चिंताजनक हो गई और उन्हें रिहा न किए जाने के विरोध में वायसराय की कार्यकारिणी के तीन सदस्यों–एच०पी० मोदी, एन०आर० सरकार और एम०एस० अणे–ने 17 फरवरी को त्यागपत्र दे दिया। 20 फरवरी को सर्वदलीय सम्मेलन ने सरकार से अपील की कि गाँधीजी को तुरंत और बिना शर्त रिहा किया जाए। और भी सैकड़ों अपीलें वायसराय, एमरी और चर्चिल के पास भेजी गईं। किंतु गाँधीजी की बिगड़ती हुई हालत के बावजूद सभी अपीलें ठुकरा दी गईं। सरकार को यह विश्वास हो गया था कि गाँधीजी इस उपवास से जीवित नहीं बचेंगे पर वह इसके लिए तैयार थी। यहाँ तक कि आग़ाख़ाँ पैलेस में ही उनके दाह संस्कार का प्रबंध भी कर लिया गया था। चंदन की लकड़ियाँ खरीद ली गई थीं। उपवास के बीच गाँधीजी की हालत कई बार घोर चिंताजनक हो गई और डाक्टर भी आशा छोड़ बैठे किंतु गाँधीजी ने अदम्य संजीवनी शक्ति का परिचय दिया, सरकार और डॉक्टर दोनों ही के अनुमान गलत साबित हुए। सौभाग्य से सभी भयावह आशंकाओं के विरुद्ध गाँधीजी उपवास पूरा कर पाए और बच गए। पर बाद में गाँधीजी फिर सख्त बीमार पड़े। डॉक्टरों की राय के अनुसार वे कुछ ही दिन के मेहमान थे। नये वायसराय लार्ड वेवल ने सोचा कि गाँधीजी की मौत की जिम्मेदारी सरकार अपने ऊपर क्यों ले अत: गाँधीजी को 6 मई, 1944 को रिहा कर दिया गया।

स्वाधीनता के लिए किया गया कोई भी प्रयास, कोई भी आंदोलन अथवा कोई भी त्याग कभी विफल नहीं जाता। अंतिम सिद्धि में उन सबका अपना-अपना महत्वपूर्ण स्थान होता है। अत: 1942 के "भारत छोड़ो" आंदोलन का मूल्यांकन करते समय यह कहना कि आंदोलन विफल रहा भारी भूल होगी। जो लोग मानते हैं कि 1942 का आंदोलन विफल रहा, उनके अनुसार इस विफलता के कारण थे: (I) संगठन और पूर्व आयोजन की कमी; (II) सरकार की दमन शक्ति और उसका पूरा प्रयोग; (III) सेना के विभिन्न अंगों, बड़े-बड़े व्यापारियों और पुलिस तथा अन्य सरकारी कर्मचारियों का ब्रिटिश शासकों के प्रति वफादार बने रहना; (IV) काँग्रेस नेताओं की गिरफ्तारी के बाद कुशल नेतृत्व का अभाव; और (V) आंदोलन के कार्यक्रम के बारे में व्यापक अनिश्चितता।

इसमें संदेह नहीं कि आंदोलन को कुचल दिया गया किंतु 1947 में स्वाधीनता का

जो स्वर्ण-विहान हुआ उसमें इस आंदोलन का ही सबसे बड़ा योगदान था। अगस्त, 1942 में दी गई "भारत छोड़ो" की ललकार के ठीक पाँच वर्ष बाद ही अँग्रेजों को भारत छोड़ देना पड़ा। 1942 का "भारत छोड़ो" आंदोलन सचमुच 1857 की असफल क्रांति के बाद, भारत में अँग्रेजी राज की समाप्ति के लिए किया गया सबसे बड़ा प्रयास था। जिस प्रकार 1857 की क्रांति मूलतः अँग्रेजी शासन के विरुद्ध सिपाहियों का विद्रोह थी, उसी प्रकार 1942 का आंदोलन मूलतः युवा वर्ग का, मजदूरों का और विद्यार्थियों का विद्रोह था।

बंगाल का अकाल

इसी बीच 1943 का भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। यह संसार का सबसे बड़ा मानव कृत दुर्भिक्ष था। जहाँ एक ओर हजारों की तादाद में पुरुष, स्त्री और बच्चे भूख से तड़प-तड़प कर मर रहे थे वहीं दूसरी ओर अनाज सरकारी गोदामों में पड़ा सड़ रहा था। लगता है यह अकाल भी सरकार की दमन नीति और सैन्य नीति का अंग था। एक ओर इसके द्वारा बंगाल की क्रांतिकारी भावना और 1942 के आंदोलन के लिए सजा दी जा रही थी और दूसरी ओर यही बढ़ती हुई जापानी सेनाओं का मुकाबला करने का ब्रिटिश सरकार का ढंग था। यह नीति थी 'आग लगाओ, भूखा मारो और बहादुरी के साथ पीछे हट जाओ'। अँग्रेज सरकार "लाखों की संख्या में फुँके हुए, भूखे और मरे हुए" आदमियों से जापानी सेनाओं का मुकाबला करना चाहती थी। जैसा कि हम देख चुके हैं यदि उस समय बंगाल पर जापान का प्रभावी हमला हो जाता तो ब्रिटिश सरकार इस स्थिति में नहीं थी कि सैनिक साधनों से उसकी प्रगति रोक सकती। नेताजी सुभाष चंद्र बोस और उनकी आजाद हिंद फौज के कारण यह भी डर था कि विशेषकर बंगाल की जनता उनका विरोध नहीं करेगी और हो सकता है कि उनकी रसद आदि से सक्रिय सहायता भी करे। बंगाल के अतिरिक्त उड़ीसा, बिहार और मद्रास में भी अकाल की स्थिति थी। पूरे द्वितीय महायुद्ध में सारे ब्रिटिश साम्राज्य में जितनी जानें गईं उससे कहीं अधिक–कई लाख–जानें भारत में अकेले इस दुर्भिक्ष में चली गईं। विदेशी शासन के अभिशाप की इससे अधिक नृशंस मिसाल नहीं हो सकती थी। पंडित नेहरू के शब्दों में:

> "इस अकाल ने चोटी के थोड़े से आदमियों की खुशहाली के नीचे हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य की कई पीढ़ियों की हुकूमत से जो गरीबी और गंदगी, इंसानी गिरावट और बरबादी की तस्वीर तैयार हुई थी, खोलकर रख दी। हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य का यह नतीजा था और यही उसकी कामयाबी थी। हर जानकार दर्शक इस बात से सहमत है कि यह अकाल आदमी का बनाया हुआ था।"

अकाल में हुई मौतों के बारे में अलग-अलग अनुमान हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक अध्ययन के अनुसार कुल 34 लाख व्यक्ति इस अकाल में भूख से मरे। इसके

अतिरिक्त लगभग 46 प्रतिशत आबादी को भयंकर बीमारियाँ हुईं। जॉन बुडहैड की अध्यक्षता में नियुक्त सरकारी अकाल जाँच कमीशन की रिपोर्ट मई, 1945 में प्रकाशित हुई। इसके अनुसार अकाल और तत्संबंधी महामारियों के कारण 15 लाख मौतें हुईं। बंगाल के अतिरिक्त देश के दूसरे भागों में अकाल और महामारियों से जो मौतें हुईं वे इनसे अलग हैं। अकाल जाँच कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में कहा :

> "हमारे लिए बंगाल के अकाल के कारणों की छानबीन करना एक बहुत दुःख और दर्द से भरा काम रहा है। बंगाल के अकाल में 15 लाख आदमी उन हालतों के शिकार हुए जिनके लिए वे स्वयं जिम्मेदार नहीं थे। समाज अपने संगठन के होते हुए भी अपने दुर्बल सदस्यों की रक्षा करने में असफल रहा। वस्तुतः नैतिक, सामाजिक और साथ ही सरकारी ढाँचा टूट गया था।"

सरकारी व्यवस्था की आलोचना करते हुए कमीशन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि सरकार सचमुच दृढ़निश्चय और साहस से काम लेती तो बंगाल की बरबादी न होती या कम से कम इतनी भयंकर बरबादी न होती।

वेवेल योजना और शिमला सम्मेलन

साढ़े सात साल तक वायसराय और गवर्नर-जनरल रहने के बाद अक्तूबर, 1943 में लार्ड लिनलिथगो को वापस बुला लिया गया था और उनके स्थान पर भारत के तत्कालीन प्रधान सेनापति लार्ड वेवेल को नियुक्त किया गया था। वायसराय का पद सँभालने के लिए आते समय लार्ड वेवेल ने कहा कि वे भारत के लिए अद्‌भुत भेंटों से भरा थैला लेकर आ रहे हैं। किंतु गाँधीजी की रिहाई के अतिरिक्त लगभग दो वर्ष तक उन्होंने विशेष कुछ नहीं किया जिससे भारतीयों को और घोर निराशा हुई। मार्च, 1945 में लार्ड वेवेल ब्रिटिश सरकार से भारत की भावी सांविधानिक व्यवस्था के बारे मे बातचीत करने के लिए लंदन गए। इसी बीच मई, 1945 में मित्र देशों की विजय और जर्मनी की पराजय हो गई। यूरोप में युद्ध समाप्त हो गया। किंतु, जापान अभी तक अपराजित था और पूर्व में भीषण युद्ध चल रहा था। बर्मा, सिंगापुर और इंडोनेशिया पर जापान का कब्जा था। इस सारे क्षेत्र में सहायता केवल भारत से मिल सकती थी और अगर वह मिल जाती तो जापान को परास्त करना बहुत सरल हो जाता। जापान के विरुद्ध प्रभावी मोर्चे स्थापित करने में भारतीय सहयोग की विशेष आवश्यकता थी। अतः अमरीका और रूस ने चर्चिल सरकार पर एक बार पुनः जोर डाला कि वह भारत की सांविधानिक समस्या का कोई उचित हल यथाशीघ्र खोज निकाले। उधर ब्रिटेन में आम चुनाव सिर पर आ गए और लोकमत का पलड़ा श्रमिक दल की ओर झुका प्रतीत हुआ। श्रमिक दल ने चर्चिल की भारत-नीति की कड़ी आलोचना की और कहा कि अनुदार सरकार भारतीय नेताओं के साथ कोई उचित समझौता कर सकने के नितांत अयोग्य है।

चर्चिल श्रमिक दल के इस आरोप को झुठलाना चाहते थे और दिखाना चाहते थे कि उनकी सरकार भी भारत समस्या को सुलझाने को उतनी ही उत्सुक थी जितनी कि कोई भावी श्रमिक सरकार हो सकती थी। श्रमिक दल ने सदस्य देशों की स्वाधीनता और आपसी भाईचारे के आधार पर राष्ट्रमंडल के पुनर्गठन का सुझाव रखा और श्रमिक दल के नेता एटली ने घोषणा की कि उनका दल भारत को अविलंब पूर्ण स्वराज्य देने के लिए वचनबद्ध है। ऐसी स्थिति में सत्ताधारी अनुदार दल यह कदापि नहीं चाहता था कि भारतीय समस्या का समाधान भावी श्रमिक सरकार के हाथों में सौंप दे तथा इस समस्या को सुलझाने का श्रेय भी श्रमिक दल को ही मिले। इसी सब पृष्ठभूमि में लार्ड वेवेल की ब्रिटिश सरकार से बातचीत हुई। वे 4 जून को भारत वापस आए। 10 दिन बाद, 14 जून, 1945 को लार्ड वेवेल ने सांविधानिक गतिरोध दूर करने के लिए कुछ ताजा प्रस्तावों की घोषणा की और कहा कि इनके द्वारा राजनीतिक तनाव कम होगा तथा देश 'पूर्ण स्वराज्य' के अपने लक्ष्य की ओर प्रगति करेगा। यही ताजा प्रस्ताव वायसराय वेवेल के नाम पर 'वेवेल योजना' के नाम से विख्यात हुए।

वेवेल योजना का उद्देश्य भारत के लिए स्वयं भारतीयों द्वारा संविधान बनाए जाने तक के लिए एक प्रकार की अंतरिम व्यवस्था करना था। योजना में भारत की स्वाधीनता की समस्या के ऊपर कोई नई रोशनी नहीं डाली गई थी। उसमें विशेषत: वायसराय की कार्यकारिणी-परिषद के पुनर्गठन की बात कही गई थी। योजना के अनुसार वायसराय और प्रधान सेनापति को छोड़कर नई परिषद के सब सदस्य संगठित राजनीतिक जनमत के प्रतिनिधि भारतीय होते। परिषद में सवर्ण हिंदू और मुसलमान सदस्यों की संख्या बराबर रखी गई थी। इनके अतिरिक्त भारतीय सदस्यों में एक अनुसूचित जातियों का और एक सिक्खों का प्रतिनिधि होता। सीमा व्यवस्था और जनजातियों से संबंधित मामलों को छोड़कर और सब विभाग भारतीयों के हाथों में सौंप दिए जाने थे। पहली बार वैदेशिक विभाग भी एक भारतीय सदस्य के अधिकार में दे दिया जाना था। वायसराय की इस प्रकार पुनर्गठित कार्यकारिणी-परिषद वस्तुत: एक अस्थायी राष्ट्रीय सरकार के रूप में कार्य करती। इस सरकार का विशेष काम होता जापान के विरुद्ध पूरी शक्ति और वेग के साथ युद्ध संचालन करना, नया संविधान बनने तक देश का प्रशासन करना, संविधान बनाने के लिए संविधान सभा आदि के संयोजन पर विचार करना, विभिन्न जातियों और दलों के नेताओं की सहमति प्राप्त करना तथा शांति सम्मेलन और अन्य अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के लिए भारत के प्रतिनिधियों को चुनना। क्योंकि वायसराय को ब्रिटिश सम्राट के प्रतिनिधि होने के अतिरिक्त भारतीय प्रशासन के अध्यक्ष की हैसियत से भी काम करना था, योजना में भारत में ब्रिटेन के व्यापारिक और आर्थिक हितों की रक्षा के लिए एक हाई कमिश्नर अथवा महाआयुक्त की नियुक्ति की भी व्यवस्था की गई थी। उन सूबों में जहाँ 1935 के भारतीय शासन अधिनियम की धारा 93 के अंतर्गत गवर्नर का शासन लागू था, फिर से मिली-जुली उत्तरदायी सरकारों की स्थापना की जानी थी।

जहाँ तक सांविधानिक समस्या के दीर्घकालीन पहलू का संबंध था, सम्राट की सरकार ने 1942 के क्रिप्स प्रस्ताव को फिर दुहराया और यह स्पष्ट किया कि "कार्यकारी परिषद के गठन से भविष्य के स्थायी संविधान या संविधानों के स्वरूप पर कोई अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा।"

उपरोक्त सुझावों पर विचार-विमर्श करने के लिए, वायसराय ने शिमला में भारतीय नेताओं का एक सम्मेलन बुलाया। सम्मेलन में भाग लेने के लिए कुल 21 नेताओं को निमंत्रण दिया गया। इनमें थे गाँधीजी, जिन्ना, प्रांतों के मुख्यमंत्री, जिन प्रांतों में गवर्नर का शासन चल रहा था उनके भूतपूर्व मुख्यमंत्री, केंद्रीय विधान-सभा में कांग्रेस, यूरोपीय ग्रुप तथा नेशनलिस्ट पार्टी के नेता और लीग के उपनेता, उच्च सदन में कांग्रेस और लीग के नेता, एक अनूसूचित जातियों के तथा एक सिक्खों के नेता।

शिमला सम्मेलन में भाग ले सकने के लिए तथा वैसे भी समझौते के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ तैयार करने के उद्देश्य से सरकार ने 15 जून को कांग्रेसी नेताओं को जेल से मुक्त कर दिया। बड़े आशामय वातावरण में 25 जून को शिमला सम्मेलन प्रारंभ हुआ। पहले दौर में गाँधीजी को छोड़कर और सभी आमंत्रित नेता उपस्थित थे। बातचीत चार दिन तक चली। कुछ मूल सिद्धांतों पर शीघ्र ही सहमति हो गई जैसे अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व, युद्ध प्रयासों में पूरा सहयोग तथा युद्ध की समाप्ति तक वायसराय की पुनर्गठित कार्यकारिणी परिषद का कायम रहना, आदि। किंतु कार्यकारिणी परिषद की सदस्यता के प्रश्न को लेकर सम्मेलन में गहरा मतभेद पैदा हो गया। एक ओर हिंदू महासभा जैसे हिंदू संगठनों की दृष्टि में 9 करोड़ मुसलमानों को कार्यकारिणी परिषद में 25 करोड़ हिंदुओं के बराबर स्थान देना हिंदुओं के साथ घोर अन्याय था, दूसरी ओर जिन्ना का आग्रह था कि परिषद के सभी मुसलिम सदस्यों को मनोनीत करने का एकमात्र अधिकार मुसलिम लीग को ही होना चाहिए जबकि कांग्रेस सभी सवर्ण हिंदुओं को मनोनीत कर सकती थी। जिन्ना की माँग का मुसलिम लीग के अलावा और सभी दलों ने विरोध किया। कांग्रेस ने सवर्ण हिंदुओं और मुसलमानों को कार्यकारिणी परिषद में बराबर स्थान दिए जाने को तो किसी प्रकार मान लिया किंतु वह जिन्ना के अथवा मुसलिम लीग के मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि होने के दावे को स्वीकार न कर सकी। सैद्धांतिक दृष्टि से ऐसी स्वीकृति का अर्थ यह होता कि कांग्रेस एक विशुद्ध हिंदू संस्था है और उसका धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय संस्था होने तथा सारे देश की जनता का प्रतिनिधित्व करने का दावा थोथा है। व्यावहारिक स्तर पर जिन्ना की शर्त मान लेने का नतीजा यह होता कि कांग्रेस मौलाना आज़ाद जैसे किसी राष्ट्रवादी मुसलमान को अथवा किसी पारसी या इसाई को सवर्ण हिंदुओं के स्थान पर भी मनोनीत नहीं कर सकती थी जो उन राष्ट्रवादी मुसलमानों और अन्य राष्ट्रवादी अल्पसंख्यकों के साथ विश्वासघात होता जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलनों में सदैव कांग्रेस का साथ दिया था, कारावास भुगता था तथा अन्य अनेक त्याग किए थे। अतएव कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना आज़ाद ने स्पष्ट कहा

कि कांग्रेस ऐसा कोई सुझाव नहीं मान सकती जिसके द्वारा उसके राष्ट्रीय चरित्र पर आँच आए, राष्ट्रीयता की प्रगति अवरुद्ध हो और वह एक सांप्रदायिक संस्था मात्र रह जाए।

यदि निष्पक्ष रूप से देखा जाए तो उस समय देश में मुसलिम लीग की स्थिति ऐसी नहीं कही जा सकती थी कि उसे मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था माना जा सके। पंजाब में खिज़र हयात खाँ की यूनियनिस्ट पार्टी की सरकार थी जो मुसलिम लीग के विरुद्ध थी। बंगाल में मुसलिम लीग सरकार की हार हो गई थी और वह प्रांत गवर्नर के शासन में था। उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रांत में कांग्रेस मंत्रिमंडल पदासीन था। इस प्रकार मुसलिम बहुमत वाले 6 प्रांतों में से केवल दो प्रांतों, असम और सिंध में मुसलिम लीग की सरकारें थीं और इन दोनों में भी लीग सरकारों को कांग्रेस के सहयोग की अपेक्षा थी। यूनियनिस्ट पार्टी के नेता और पंजाब के मुख्यमंत्री ख़िज़र हयात ख़ाँ ने भी मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि होने के लीग के दावे को चुनौती दी और आग्रह किया कि उनकी पार्टी का एक मुसलमान वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में अवश्य लिया जाए। कांग्रेस का विचार अपनी सूची में एक राष्ट्रीय मुसलमान, एक भारतीय इसाई, एक पारसी और केवल दो हिंदुओं को मनोनीत करने का था। विशेषकर जिन्ना की हठधर्मी के कारण इस विषय पर कोई समझौता न हो सका। अंत में 29 जून को वायसराय ने सम्मेलन को 2 सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया किंतु, ऐसा करने से पहले लार्ड वेवेल ने विभिन्न दलों से कार्यकारिणी परिषद की सदस्यता के लिए नामों की सूची माँगी और सब फार्मूलों को छोड़कर इन सूचियों के आधार पर, सम्मेलन की सहमति से, उन्होंने स्वयं एक अस्थायी सूची तैयार करने का निश्चय किया। मुसलिम लीग और यूरोपीय ग्रुप के अतिरिक्त सभी दलों ने अपनी-अपनी सूचियाँ वायसराय को दे दीं। वायसराय ने जो सूची तैयार की उसमें मुसलिम लीग के प्रमुख नेताओं के 5 नाम स्वयं चुनकर रखे। उनके अतिरिक्त 5 सदस्य कांग्रेस द्वारा मनानीत थे, एक सिक्ख प्रतिनिधि था, दो अनुसूचित जातियों के तथा एक पंजाब के मुख्यमंत्री ख़िज़र हयात ख़ाँ का नाम था। किंतु जब यह सूची उन्होंने जिन्ना के सामने रखी तो ज़िन्ना ने उसे एकदम अस्वीकार कर दिया क्योंकि इसमें दो मुसलमान ऐसे थे जो मुसलिम लीग से नहीं थे। अंतिम प्रस्तावों में वायसराय मुसिलम स्थानों में से केवल एक स्थान लीग से बाहर ख़िज़र हयात ख़ाँ की यूनियनिस्ट पार्टी को देना चाहते थे। पर जिन्ना को यह भी मंजूर न हुआ। ऐसी स्थिति में जब 14 जुलाई को सम्मेलन पुनः प्रारंभ हुआ, वायसराय ने असफलता की घोषणा कर दी और कहा कि कार्यकारिणी परिषद की सदस्यता के प्रश्न पर कोई भी समझौता न हो पाने के कारण सम्मेलन आगे जारी रखना व्यर्थ है। मौलाना आज़ाद के अनुसार :

"अगर जिन्ना के विरोध के कारण सम्मेलन भंग न हो गया होता तो परिणाम यह होता कि 14 सदस्यों की परिषद में 7 मुसलमान होते जबकि उनकी संख्या भारत में लगभग 1/4 थी। यह कांग्रेस की उदारता का प्रमाण था और मुसलिम लीग की मूर्खता का। कहने को तो लीग मुसलमानों के हितों की रक्षा करती थी किंतु वस्तुतः उसके विरोध के कारण ही अविभाजित भारत की सरकार में मुसलमानों

9

स्वाधीनता और विभाजन

मंत्रि-मिशन और माँउटबेटेन योजनाएँ

1945 – 1947

"हम जानते हैं कि देश में इस स्वतंत्रता प्राप्ति से जो उल्लास, जो खुशी और जो उत्साह होना चाहिए था, वह इसका बँटवारा हो जाने के कारण किरकिरा हो गया है।"

राजेन्द्र प्रसाद
15 अगस्त, 1947

आम चुनाव और नई प्रांतीय सरकारें

जुलाई, 1945 में निर्वाचनों में विजयी होने के बाद श्रमिक दल ने ब्रिटेन में सत्ता सँभाली। विंस्टन चर्चिल के स्थान पर क्लीमेंट एटली प्रधानमंत्री बने तथा एमरी के स्थान पर पैथिक लारेंस भारत-सचिव बने। हीरोशिमा और नागासाकी पर अणुबम डाले जाने की त्रासदी के बाद अगस्त में जापान ने भी हथियार डाल दिए। महायुद्ध समाप्त हो गया। 25 अगस्त को वायसराय वेवेल लंदन गए और नई श्रमिक सरकार के नेताओं से बातचीत कर के 18 सितंबर को लौटे। 19 सितंबर, 1945 को उन्होंने भारत में आम चुनावों की घोषणा की और कहा कि चुनावों के बाद वे प्रांतीय विधान-मंडलों और देसी राज्यों के प्रतिनिधियों से बातचीत करेंगे, यथासंभव तुरंत ही संविधान बनाने के लिए एक निकाय का संयोजन किया जाएगा तथा प्रांतों में अविलंब ही उत्तरदायी प्रशासनों की पुनर्स्थापना होगी। वायसराय ने कहा "हमें सबसे पहले केंद्रीय और प्रांतीय विधान-मंडलों के लिए निर्वाचन कराने चाहिए जिससे कि भारतीय निर्वाचकों की इच्छा का ज्ञान हो सके।" उन्होंने स्पष्ट किया कि "इस समय मताधिकार पद्धति में कोई बड़ा परिवर्तन करना संभव नहीं है", "क्योंकि इससे कम से कम दो वर्ष की देरी हो जाएगी"।

नई दिल्ली में वायसराय की घोषणा के साथ, 19 सितंबर को ही लंदन से प्रधानमंत्री एटली ने भी ऐसी ही एक घोषणा की। ब्रिटिश संसद में अपने औपचारिक

अभिभाषण में सम्राट ने भी स्पष्ट आश्वासन दिया कि उनकी "सरकार भारतीय जनमत के नेताओं के सहयोग से भारत में पूर्ण स्वराज्य की यथाशीघ्र स्थापना का पूरा प्रयास करेगी।" इन घोषणाओं के बाद, कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना आज़ाद के सुझाव पर वायसराय ने 1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन के सिलसिले में गिरफ्तार किए गए सभी राजनीतिक कैदियों को भी जेल से रिहा कर दिया। इस सबसे देश में स्वस्थ और सहानुभूतिपूर्ण राजनीतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में भारी सहायता मिली। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने अपनी 19 सितंबर की बैठक में प्रांतीय और केंद्रीय विधान-मंडलों के चुनावों में भाग लेने का निर्णय किया किंतु समिति ने यह स्पष्ट कर दिया कि कांग्रेस को और देश को पूर्ण स्वाधीनता से कम कुछ भी स्वीकार न होगा तथा 19 सितंबर की वायसराय की घोषणा में 1942 के क्रिप्स प्रस्तावों से अधिक कुछ नहीं था। स्थिति स्पष्ट करते हुए 23 सितंबर को पैथिक लारेंस ने अपने वक्तव्य में कहा :

> "ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अंतर्गत स्वशासन की स्थिति में आत्म-निर्णय की स्वाधीनता शामिल है। राष्ट्रमंडल के सदस्य एक दूसरे के साथ केवल स्वेच्छा से बँधे हैं। भारत की भी यही स्थिति होगी यद्यपि हम यह आशा और विश्वास अवश्य रखते हैं कि जब स्वेच्छा से निर्णय करने का अवसर उन्हें मिलेगा तो भारतीय स्वयं अपने हित में ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में रहने के पक्ष में ही निर्णय करेंगे।"

1945 के अंत में केंद्रीय विधान-सभा के लिए निर्वाचन हुए। प्रांतीय निर्वाचन 1946 की पहली तिहाई में पूरे हो गए। चुनावों के परिणामस्वरूप साधारण निर्वाचन क्षेत्रों में तो कांग्रेस को भारी सफलता मिली और आठ प्रांतों में पूर्ण बहुमत प्राप्त हो गया किंतु मुसलमानों के लिए आरक्षित स्थानों पर उसे घोर निराशा हुई। कुल 492 मुसलिम स्थानों में 428 अकेले मुसलिम लीग ने जीते।

मुसलिम लीग को पूर्ण बहुमत तो किसी भी प्रांत में नहीं मिला था किंतु तीन प्रांतों–बंगाल, पंजाब और सिंध–में वह अकेले सबसे बड़े दल के रूप में आई। पंजाब में अकाली भी एक सशक्त गुट के रूप में उभरे। चुनावों के बाद अप्रैल, 1946 में सिंध और बंगाल में मुसलिम लीग ने यूरोपीय ग्रुपों की सहायता से अपनी सरकारें बनाईं, पंजाब में ख़िज़्र हयात ख़ाँ ने कांग्रेस और अकाली सिक्खों के सहयोग से एक मिला-जुला मंत्रिमंडल बनाया। और सभी अर्थात आठ प्रांतों में कांग्रेस की सरकारें बनीं। मुसलिम बहुल उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में लीग के सब प्रयत्न विफल रहे और वहाँ कांग्रेस जीती और उसकी सरकार बनी।

आजाद हिंद फौज

1942 में जब कांग्रेस के सभी नेताओं को जेलों में डाल दिया गया था तथा ब्रिटिश सरकार के भीषण दमन चक्र के कारण "भारत छोड़ो" आंदोलन शिथिल पड़ता

जा रहा था, तब भारत की सीमाओं के बाहर से उठी "जय हिंद" और "दिल्ली चलो" की आवाजों ने देशवासियों को साहस और साँत्वना दी। जैसा कि हम देख चुके हैं, नेताजी सुभाष चंद्र बोस अँग्रेजों की आँखों में धूल झोंककर जनवरी, 1941 में जर्मनी पहुँच गए थे। वहाँ से वे जापान गए। जुलाई, 1943 में उन्होंने आजाद हिंद फौज को पुनर्जीवित किया* एक बहुत बड़ी संख्या में भारतीय सैनिक जो अँग्रेजों की ओर से लड़ते हुए जापान के युद्धबंदी बन गए थे, नेताजी की पुकार पर आजाद हिंद फौज में मिल गए। आजाद हिंद फौज की बागडोर नेताजी ने स्वयं सँभाली। उनके व्यक्तित्व, त्याग, और अथक परिश्रम के फलस्वरूप सारे दक्षिण-पूर्वी एशिया में एक नई प्रेरणा और स्फूर्ति फैल गई तथा वहाँ पर बसे अनेक भारतीयों ने तन-मन-धन से भारत की स्वाधीनता के प्रयास में नेताजी की सहायता की। अक्तूबर, 1943 में नेताजी ने अस्थायी आजाद हिंद सरकार की स्थापना की। शीघ्र ही 8 राष्ट्रों ने नेताजी की सरकार को मान्यता दे दी। आजाद हिंद सरकार ने अपने आजाद हिंद रेडियो के द्वारा भारतवासियों से समय-समय पर हिम्मत रखने और स्वाधीनता के लिए लड़ने का आह्वान किया। नेताजी के नेतृत्व में आजाद हिंद फौज भारत की ओर बढ़ी और प्रारंभ में उसे भारी सफलता भी मिली। बहुत-सी जगहों से उसने ब्रिटिश सेनाओं को पीछे खदेड़ दिया, आजाद हिंद फौज इंफाल तक पहुँच गई और लगभग 250 वर्ग मील भारत भूमि को उसने स्वाधीन कर वहाँ पर आजाद हिंद सरकार का शासन स्थापित किया और आजादी का ध्वज लहराया। उसका नारा था कि दिल्ली पहुँचकर लाल किले पर तिरंगा झंडा फहराया जाए। किंतु ब्रिटिश फौजों के भारी हमले और बरसात के कारण अगस्त, 1945 में आजाद हिंद फौज को इंफाल से पीछे हटना पड़ा और हीरोशिमा तथा नागासाकी पर अणु बम गिराए जाने के बाद समर्पण करना पड़ा। युद्ध समाप्ति पर आजाद हिंद फौज के अफसरों को बंदी बनाकर भारत लाया गया और उन पर भारतीय सेना से भागने और सम्राट के विरुद्ध युद्ध करने के आरोप में मुकदमा चलाना तय किया गया। सर्वप्रथम जिन तीन अफसरों पर मुकदमा चलाया गया वे थे शाहनवाज़, ढिल्लन और सहगल। संयोग की बात थी कि उनमें से एक मुसलमान था, एक सिक्ख और एक हिंदू और उन सबको दिल्ली के लाल किले में लाकर बंदी रखा गया। लाल किले में ही उन पर प्रसिद्ध मुकदमा चला। आजाद हिंद फौज की देशभक्ति और वीरता की गाथाएँ देश भर में फैल चुकी थीं और युवक-युवतियों के लिए अदम्य उत्साह और प्रेरणा के स्रोत बन चुकी थीं। आजाद हिंद फौज के अफसरों पर मुकदमा चलाए जाने के समाचार से सारे देश में क्रोध की भावना उबल पड़ी। पहले तीन अफसर भारत की आजादी की लड़ाई के प्रतीक बन गए। देश भर में उनके प्रति प्रबल सहानुभूति थी, उनके संबंध में कांग्रेस की ओर से भी वैसी

---

* आजाद हिंद फौज की स्थापना जापान में रास बिहारी बोस जैसे भारतीय देशभक्तों ने की थी। संगठन और प्रशिक्षण का उत्तरदायित्व कैप्टन मोहनसिंह को सौंपा गया था। कैप्टन मोहनसिंह भारतीय सेना [illegible] अँग्रेजों की ओर से लडते हुए जापानी सेनाओं के सामने समर्पण करना पड़ा था।

अवहेलना नहीं की जा सकती थी जिसके कारण भगत सिंह को फाँसी पर चढ़ा दिया गया था। कांग्रेस ने उनके बचाव का बीड़ा उठाया। उनके विरुद्ध नवंबर, 1945 को मुकदमा शुरू होने से पहले ही देश के कोने-कोने में आजाद हिंद फौज के देश-भक्ति के गीत तथा नारे गूँजने लगे। आम जनता ने और स्वयं जवाहरलाल नेहरू ने "जय हिंद" के अभिवादन को अपना लिया। देश के चोटी के बैरिस्टरों ने निःशुल्क पैरवी करने का निश्चय किया। इनमें थे भूलाभाई देसाई, तेजबहादुर सप्रू जैसे लोग। पैरवी करने के लिए नेहरूजी ने भी वर्षों बाद अपना बैरिस्टरी का चोगा पहना। इन वीर सेनानियों पर ज्यों-ज्यों मुकदमा चला, देश में राष्ट्रीय चेतना, राजनीतिक जागृति और विद्रोह की भावना बढ़ती गई। जोरदार पैरवी के बीच जो तर्क अदालत के सामने रखे गए, उनसे भी राष्ट्रीयता की भावना को बल मिला। उदाहरण के लिए भूलाभाई देसाई ने अदालत के सामने प्रभावशाली शब्दों में कहा कि किसी भी गुलाम देश का यह जन्म-सिद्ध अधिकार है कि वह विदेशी आक्रांताओं के विरुद्ध हथियार उठाकर लड़े। बचाव के अच्छे से अच्छे तर्कों के बावजूद जजों ने ढिल्लन, सहगल और शाहनवाज़ को दोषी ठहराया और मृत्युदंड की सजा दी। किंतु देश भर में उस समय के वातावरण को देखते हुए सरकार को इतना साहस न हुआ कि वह मृत्युदंड की सजा को कार्यरूप दे सके। अंत में तीनों जनरलों को रिहा कर दिया गया। बाद में आजाद हिंद फौज के और भी सब लोग रिहा कर दिए गए या तो अदालत द्वारा या वायसराय द्वारा। इस नैतिक विजय से भारतीयों की छाती गर्व से फूल गई, उनके दिलों से अँग्रेजों की दमन नीति का डर निकल गया।

नौ-सेना का विद्रोह

आजाद हिंद फौज के आदर्शों और कारनामों का देश भर में प्रचार और प्रशंसा होने का परिणाम यह हुआ कि भारतीय सेना के सैनिकों में भी एक नई भावना जगी। ब्रिटिश सरकार को साफ दीखने लगा कि अब तक जिस भारतीय सेना पर वह आँख मूँदकर विश्वास कर सकती थी, उस सेना का सैनिक भी अब अपने देश के लिए आजादी चाहता था और केवल उसी के लिए लड़ना चाहता था। अब ब्रिटिश सरकार को यह आशा न रही कि भारतीय सैनिक देश का मामला आने पर भी सैनिक अनुशासन के नाम पर ब्रिटिश सरकार की आज्ञाओं का पालन करेगा।

18 फरवरी, 1944 को बंबई में नौ-सेना के एक भाग ने सचमुच अँग्रेज अफसरों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। लगभग 300 नाविकों ने वेतन, भोजन, जातीय भेदभाव तथा उनके चरित्र के विषय में सेनापति के अपमानजनक शब्दों के प्रयोग जैसे प्रश्नों को लेकर विशाल प्रदर्शन किए और भूख हड़ताल कर दी। नौ-सैनिकों की टुकडियाँ ट्रकों और लारियों में बैठकर शहर में घूमने लगीं। शीघ्र ही विद्रोह मद्रास, कराची और कलकत्ता में फैल गया। कांग्रेस, लीग और कम्युनिस्ट पार्टी के झंडे जगह-जगह नौ-सेना

के ट्रकों और लारियों पर दिखाई देने लगे। नौसैनिकों ने अँग्रेज अफसरों पर हमले किए और उनकी गोलियों का उत्तर हथगोंलों से दिया। चार दिन के अंदर विद्रोहियों ने 20 जहाजों पर अपना कब्जा कर लिया। उन पर गोलाबारी शुरू करने के लिए तैयार तोपें लगी हुई थीं। अंत में सरदार पटेल ने बीच में पड़कर नौसैनिकों से समर्पण करा दिया। नौसेना के इस विद्रोह ने अँग्रेजों की आँखें खोल दीं और उनके पाँव उखड़ गए। उन्हें यह स्पष्ट हो गया कि अब वे सरकारी सेवाओं और सेना की राजभक्ति पर निर्भर नहीं रह सकते थे। राष्ट्रीयता उनके दिलों में भी घर कर चुकी थी। वी०पी० मेनन के शब्दों में:

"वायसराय को पूरा विश्वास था कि कांग्रेस के साथ संघर्ष में वह साधारणतया सरकारी अफसरों, पुलिस और सेना के सहयोग पर निर्भर कर सकते थे। साथ ही, बुद्धिमत्ता का तकाजा था कि अपने ही देशवासियों का दमन करने के मामले में सेना की अधिक परीक्षा न ली जाए। जैसे-जैसे समय बीतता, साफ था कि भारतीय अफसरों, पुलिस और सेना की वफादारी अधिक संदिग्ध जो जाती । हो सकता था कि अधिकांश अँग्रेज अफसर यथासंभव पहला मौका पाते ही अवकाश ग्रहण कर लेते। ऐसी दशा में भारत में ब्रिटिश सरकार की स्थिति बड़ी विषम हो जाती। अतः यह नितांत आवश्यक था कि सरकार किसी भी मूल्य पर अविलंब कोई हल निकाले।"

युद्ध के दिनों में अँग्रेज शासकों ने बराबर कहा था कि युद्ध की समाप्ति पर भारत को स्वाधीन कर दिया जाएगा। सैनिकों ने उनका विश्वास किया था और वे अपनी पूरी शक्ति से मित्र देशों के अन्य सैनिकों के साथ लड़े थे। असैनिक सरकारी सेवाओं ने भी बड़ी वफादारी के साथ युद्ध प्रयासों में ब्रिटिश शासन का साथ दिया था। किंतु जब युद्ध समाप्त होने पर भी अँग्रेज स्वाधीनता के प्रश्न पर टालमटोल करते दिखाई दिए तो उनके प्रति सभी का विश्वास उठने लगा। सरकारी कर्मचारियों और सेना के तीनों अंगों के भारतीय सैनिकों की भावनाओं और दृष्टिकोण में जो मूल परिवर्तन आया उसका वर्णन मौलाना अबुल कलाम आजाद ने इस प्रकार किया है :

"सशस्त्र सेना के तीनों अंग देशभक्ति की एक नई भावना से प्रेरित थे। वस्तुतः उनमें इतना उत्साह था कि जब वे किसी कांग्रेस नेता को देखते तो अपनी भावनाओं को छिपा नहीं पाते थे। इन दिनों मैं जहाँ कहीं भी गया सेनाओं के नौजवानों ने बाहर आकर मेरा स्वागत किया तथा अपनी सहानुभूति और श्रद्धा प्रदर्शित की। उन्होंने इस बात की चिंता नहीं की कि उनके यूरोपीय अफसरों की प्रतिक्रिया क्या होगी। जब मैं कराची गया तो नौसेना के अफसरों का एक दल मुझसे मिलने आया....उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि यदि कांग्रेस आवश्यक आज्ञा जारी करे तो वे कांग्रेस के साथ आ जाएँगे, यदि कांग्रेस और सरकार के बीच संघर्ष हुआ तो वे कांग्रेस का साथ देंगे, सरकार का नहीं। बंबई में भी सैंकड़ों अफसरों ने ऐसी ही भावनाएँ अभिव्यक्त कीं। यह भावनाएँ केवल अफसरों

में ही नहीं अपितु सैनिकों में भी व्यापक रूप से फैली हुई थीं।"

यह कह सकना कठिन है कि 18 फरवरी को बंबई में प्रारंभ हुए नौसैनिक विद्रोह का तथा अगले दिन 19 फरवरी को भारत-सचिव द्वारा भारत की स्वाधीनता के प्रश्न पर बातचीत करने के लिए एक उच्चस्तरीय केबिनेट मिशन भेजे जाने की घोषणा का कितना सीधा संबंध है। हो सकता है कि यह केवल संयोग ही हो। वैसे भी नौसेना के विद्रोह का क्षेत्र बहुत सीमित था किंतु अँग्रेजों को यह अवश्य याद होगा कि किस प्रकार 1857 में यातायात और संचार की कठिनाइयों के बावजूद एक छोटी सी घटना से बढ़कर सैनिक विद्रोह सारे देश में फैल गया था। 1946 की परिस्थितियों में किसी विस्तृत सैनिक विद्रोह का परिणाम क्या होता, इसकी कल्पना की जा सकती थी।

मंत्रि-मिशन योजना

जनवरी, 1946 में श्रमिक सरकार ने भारतीय नेताओं से अनौपचारिक स्तर पर विचार-विनिमय करने के लिए एक संसदीय मंडल भेजा। मंडल का उद्देश्य था मैत्रीपूर्ण वातावरण पैदा करना और शांतिपूर्ण समझौते के लिए मैदान तैयार करना। संसदीय मंडल लगभग एक माह तक भारत में रहा। लंदन वापस पहुँच कर मंडल के सदस्यों ने सरकार को अपनी जो रिपोर्ट दी उसका भारत की समस्या के हल पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। सरकार को यह पूरा विश्वास हो गया कि अब तक की गई कार्यवाहियों से अब और अधिक काम नहीं चल सकता, भारतीय समस्या को सुलझाने के लिए एक नितांत नए और भिन्न दृष्टिकोण की आवश्यकता है। यद्यपि महायुद्ध में मित्र देशों की विजय हुई थी, ब्रिटेन की पुरानी शक्ति और शान समाप्त हो गई थी। अपनी कमजोरी, अंतर्राष्ट्रीय जनमत और भारतीयों के बढ़ते हुए असहयोग से ब्रिटिश शासकों को यह स्पष्ट हो गया कि उस विशाल साम्राज्य के, जिसमें सूर्य कभी अस्त नहीं होता, दिन अब चुक गए हैं और भारत पर अँग्रेजी राज अब और चलने वाला नहीं है।

जब भारत में प्रांतीय विधान-सभाओं के लिए निर्वाचन चल रहे थे, तभी भारत-सचिव लार्ड पैथिक लारेंस ने 19 फरवरी, 1946 को हाउस ऑफ लार्ड्स में घोषणा की कि "यह न केवल भारत, ब्रिटेन और राष्ट्रमंडल के लिए ही प्रत्युत समूचे संसार की शांति के लिए आवश्यक है कि भारतीय लोकमत के नेताओं के साथ जो बातचीत चल रही है, उसकी सफल परिणति हो।" इस उद्देश्य को सामने रखकर ब्रिटिश सरकार ने निश्चंय किया कि मंत्रिमंडल स्तर के मंत्रियों का एक विशेष मिशन भारत भेजा जाए जिसमें स्वयं भारत-सचिव तथा सर स्टेफर्ड क्रिप्स (प्रेसीडेंट ऑफ द बोर्ड ऑफ ट्रेड) और ए॰वी॰ एलक्जेंडर (फर्स्ट लॉर्ड ऑफ द एडमिरैलिटी) होंगे।

15 मार्च, 1946 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने भारत के प्रति अपनी सरकार की नीति के संबंध में हाउस ऑफ कामंस में एक महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक वक्तव्य दिया

जिसमें मंत्रि-मिशन की भारत यात्रा के उद्देश्यों का स्पष्टीकरण करते हुए एटली ने कहा कि मिशन इस बात का भरसक प्रयास करेगा कि शीघ्र से शीघ्र पूर्ण स्वाधीनता पाने में भारत की सहायता करे। एटली ने आगे कहा कि वे भारतीयों के आपसी मतभेदों पर जोर नहीं देना चाहते क्योंकि चाहे जितने भी भेद हों और जितनी भी फूट हो, इस बारे में सारे भारतीय एक मत हैं कि देश स्वाधीन होना चाहिए। भारत के सारे लोगों की चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान, सिक्ख या मराठा, राजनीतिज्ञ या सरकारी कर्मचारी–मूल माँग देश की आजादी है। यह माँग और राष्ट्रीयता की भावना अब भारतीय सैनिकों में भी फैल चुकी है। एटली ने यह भी कहा कि जहाँ तक भारत की सामाजिक आर्थिक समस्याओं का प्रश्न है उनका समाधान भारतीय स्वयं करेंगे। वक्तव्य में भारत के पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करने, स्वाधीन भारत का संविधान स्वयं बनाने तथा ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में रहने या न रहने का स्वेच्छापूर्वक निर्णय करने के अधिकार को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया था। भारत में वर्तमान शासन-व्यवस्था के स्थान पर कैसी सरकार और कैसी शासन प्रणाली स्थापित की जाए, इसका निर्णय भी स्वयं भारत को ही करना था। ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने कहा कि ब्रिटिश सरकार तो केवल आवश्यक निर्णय लेने वाली संस्था की स्थापना में भारत की सहायता करना चाहती थी।

कांग्रेस की दृष्टि से वक्तव्य में जो सबसे महत्वपूर्ण बात कही गई वह यह थी कि यद्यपि ब्रिटिश सरकार अल्पसंख्यकों के अधिकारों के प्रति सचेत है और चाहती है कि वे भयरहित होकर रह सकें, पर साथ ही वह किसी अल्पसंख्यक समाज के प्रगति के सामने दीवार बनकर खड़ा हो जाने के विरुद्ध है। क्योंकि शिमला सम्मेलन की असफलता का कारण मुसलिम लीग की हठधर्मी ही रही थी अतः प्रधानमंत्री के इस आश्वासन से कांग्रेस की मंत्रि-मिशन के प्रति आशावादिता बढ़ी। यह दूसरी बात है कि यह आश्वासन निरर्थक सिद्ध हुआ और अंततोगत्वा हुआ फिर भी वही कि मुसलिम लीग देश की प्रगति के पथ का रोड़ा बनी रही, जब तक कि देश का विभाजन न हो गया।

मंत्रि-मिशन 23 मार्च को कराची पहुँचा और अगले दिन 24 मार्च को दिल्ली। भारत की सांविधानिक समस्या का सर्वमान्य हल खोजने के लिए यह आवश्यक था कि सर्वप्रथम मिशन विभिन्न दलों, जातियों और हितों के प्रतिनिधियों से मिलकर उनके विचारों और दृष्टिकोणों को जाने-समझे। मुख्य पक्ष थे दो : कांग्रेस और मुसलिम लीग; और मुख्य प्रश्न था कि भारत एक संयुक्त इकाई बना रहे अथवा हिंदुस्तान और पाकिस्तान में विभाजित हो जाए। कांग्रेस देश की एकता और स्वाधीनता को प्राथमिकता देती थी। उसका कहना था कि अँग्रेज भारत को स्वाधीनता दे दें और छोड़ जाएँ तो भारतीय स्वयं सांप्रदायिक और अन्य समस्याओं का संतोषजनक हल खोज लेंगे। लीग को बहुसंख्यकों की निरंकुशता का डर था और उसकी माँग थी कि अँग्रेज देश का बँटवारा करने के बाद जाएँ। ऐसा कोई समझौते का मार्ग नहीं निकल सका जो कांग्रेस

और लीग दोनों को मान्य होता। मुसलिम लीग को छोड़कर देश के और सारे दल संयुक्त भारत के पक्ष में थे। कांग्रेस की ओर से मौलाना आज़ाद ने जो प्रस्ताव रखे उनके अनुसार देश की एकता कायम रखते हुए एक संघात्मक राज्य की व्यवस्था की जा सकती थी जिसमें संघ के एककों को अधिक से अधिक स्थानीय स्वायत्तता प्राप्त हो और संघ के पास केवल सुरक्षा, यातायात और वैदेशिक मामले जैसे विषय हों। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे ऐच्छिक विषयों की एक सूची हो सकती थी जिन्हें या जिनमें से कुछ को जो भी प्रांत चाहें स्वेच्छा से संघ्र को सौंप सकते थे। अवशिष्ट शक्तियों का वास प्रांतों में होता। संविधान निर्माण की समाप्ति पर यदि कोई प्रांत चाहता तो वह स्वेच्छा से संविधान से बाहर रहने का निर्णय कर सकता था, अथवा कम से कम अनिवार्य विषयों के लिए अथवा अनिवार्य तथा ऐच्छिक सभी विषयों के लिए भारत संघ में शामिल हो सकता था। कांग्रेस का विचार था कि इस योजना के अंतर्गत देश की एकता की रक्षा भी हो जाती थी और मुसलिम लीग के हिंदू आधिपत्य के डर का निराकरण भी हो जाता था। किंतु जिन्ना का कहना था कि हिंदू और मुसलमान दो भिन्न राष्ट्र हैं, उनकी सभ्यता और संस्कृति के स्रोत भिन्न हैं और उनका साथ रह सकना असंभव है; अत: भारत की राजनीतिक समस्या का एकमात्र हल है भारत का विभाजन, 6 प्रांतों के एक अलग पूर्ण प्रभुसत्तासंपन्न पाकिस्तान की सृष्टि तथा हिंदुस्तान और पाकिस्तान में संविधान बनाने के लिए दो अलग-अलग संविधान सभाओं की स्थापना।

समझौते का एक अंतिम प्रयास करने के आशय से मंत्रि-मिशन ने शिमला में एक त्रिदलीय सम्मेलन बुलाया जिसमें कांग्रेस और लीग के तीन-तीन प्रतिनिधि बुलाए गए। वायसराय सहित मंत्रि-मिशन के सदस्य भी उपस्थित थे। बातचीत के आधारस्वरूप मंत्रि-मिशन ने एक रूपरेखा सुझाई जिसके अनुसार (1) भारत की एक संघ सरकार होती जो केवल वैदेशिक मामलों, यातायात और सुरक्षा के विषयों की व्यवस्था करती; (2) प्रांतों को तीन समूहों में विभाजित किया जाता। एक समूह हिंदू प्रधान प्रांतों का तथा दूसरे और तीसरे समूह पूर्व और उत्तर पश्चिम में मुसलिम प्रधान प्रांतों के। प्रत्येक समूह उन सब विषयों की व्यवस्था करता जो प्रांत उसे सौंपते और सभी विषय प्रांतीय सरकारों के अधिकार में रहते तथा अविशिष्ट प्रभुसत्ता की शक्तियों का वास भी प्रांतों में होता। त्रिदलीय सम्मेलन 5 मई से 11 मई तक चला किंतु इसमें भी कोई समझौता न हो सका।

मन्त्रि-मिशन ने कांग्रेस और लीग दोनों के प्रस्तावों पर विचार किया। उसके मत में कांग्रेस की संघ योजना में बहुत सी सांविधानिक जटिलताएँ, असुविधाएँ तथा असंगतियाँ थीं। साथ ही मिशन इस निश्चित निर्णय पर पहुँचा कि "मुसलिम लीग के अतिरिक्त सारे देश में भारत की एकता कायम रखने की उत्कट इच्छा थी और वैसे भी मुसलिम लीग की पाकिस्तान की योजना अव्यावहारिक थी। हिंदू और मुसलमान देश के हर गाँव और शहर में इस प्रकार मिले-जुलें बसे हुए थे कि उन्हें बिल्कुल अलग करना नितांत असंभव था और जिन्ना की सकंल्पना का

पाकिस्तान बना दिए जाने के बाद भी सांप्रदायिक अथवा अल्पसंख्यकों की समस्या हल न होती क्योंकि बड़ी संख्या में मुसलमान हिंदुस्तान में और हिंदू तथा सिक्ख पाकिस्तान में रह जाते। मंत्रि-मिशन के अनुसार:

"उपरोक्त प्रभावी तर्कों के अतिरिक्त पाकिस्तान के विरुद्ध और भी कई भारी प्रशासनिक, आर्थिक और सैनिक दृष्टि से अनौचित्य के तर्क हैं। सारी यातायात और डाक-तार व्यवस्था संयुक्त भारत के आधार पर स्थापित की गई है जिसे अस्तव्यस्त करने से भारत के दोनों भागों को बहुत भारी हानि होगी। भारतीय सशस्त्र सेनाओं का निर्माण एक पूर्ण इकाई के रूप में सारे देश की रक्षा के उद्देश्य से किया गया है, सेनाओं का दो भागों में विभाजन उसकी लंबी परंपराओं तथा महान कार्यकुशलता के लिए घातक सिद्ध होगा तथा गहरे खतरों से भरा होगा। भारतीय वायु सेना और नौसेना बहुत कम प्रभावी रह जाएगी। प्रस्तावित पाकिस्तान के दो भागों में भारत की दो सबसे अधिक खतरे भरी सीमाएँ हैं और यदि प्रस्तावित पाकिस्तान बना तो (विदेशी आक्रमण की अवस्था में) इस पाकिस्तान की भूमि इतनी काफी नहीं होगी कि उसमें एक सफल रक्षा व्यवस्था का आयोजन किया जा सके। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि विभाजित ब्रिटिश भारत के साथ मिलने में देसी राज्यों को और भी अधिक कठिनाई होगी।"

अंत में, 16 मई, 1946 को मंत्रि-मिशन ने भारत की राजनीतिक समस्या के समाधान के लिए, ब्रिटिश सरकार के अनुमोदन से कुछ निजी प्रस्तावों की घोषणा की। यही प्रस्ताव मंत्रि-मिशन योजना अथवा केबिनेट मिशन प्लान कहलाते हैं। इस योजना में कांग्रेस के संयुक्त भारत और मुस्लिम लीग के पाकिस्तान के आदेशों का समन्वय करने का प्रयास किया गया था। मंत्रि-मिशन का विश्वास था कि उसकी योजना सभी दलों की प्रमुख माँगों के प्रति न्याय करती थी और साथ ही भारत में एक स्थिर और व्यावहारिक संविधान की स्थापना करने में समर्थ हो सकती थी। योजना के मुख्य प्रावधान इस प्रकार थे:

(1) भारत का एक संघ होगा जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रांत और देसी राज्य दोनों सम्मिलित होंगे। विदेशी मामले, प्रतिरक्षा तथा संचार साधन केंद्रीय सरकार के नियंत्रण में रहेंगे। इन विषयों के लिए आवश्यक राजस्व एकत्र करने की शक्ति भी केंद्र को होगी।

(2) संघीय विषयों के अतिरिक्त अन्य सारे विषय और अवशिष्ट शक्तियाँ प्रांतों में निहित होंगीं। देसी रियासतें जो विषय तथा शक्तियाँ संघ को सौंप दें उनके अतिरिक्त अन्य सारे विषय तथा शक्तियाँ उनके अपने पास सुरक्षित रहेंगी।

(3) संघ की अपनी कार्यपालिका और विधानपालिका होंगी जिनका निर्माण ब्रिटिश भारत और देसी राज्यों के प्रतिनिधियों से मिलकर होगा।

(4) विधानपालिका में प्रमुख सांप्रदायिक प्रश्नों पर निर्णय करने के लिए यह आवश्यक होगा कि साधारण बहुमत के अतिरिक्त दोनों प्रमुख जातियों के सदस्यों का अलग-अलग बहुमत भी अनिवार्य हो।

(5) कुछ प्रांत मिलकर अपने अलग-अलग समूह बना सकते हैं तथा प्रांतीय कार्यपालिकाओं और विधानपालिकाओं के अतिरिक्त अपनी सामूहिक कार्यपालिका और विधानपालिका का निर्माण कर सकते हैं। प्रत्येक समूह यह निश्चय कर सकता है कि सामूहिक संविधान की व्यवस्था की जाए या नहीं और यदि ऐसा किया जाए तो कौन से प्रांतीय विषय सामूहिक शासन को सौंपे जाएँ। ऐसे तीन समूह होंगे--(क) में बंबई, बिहार, मध्य प्रांत, मद्रास, उड़ीसा और संयुक्त प्रांत, (ख) में पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, सिंध और पंजाब; तथा (ग) में असम और बंगाल सम्मिलित होंगे।

(6) संघ और समूहों के संविधान में एक ऐसा प्रावधान होगा जिसके अंतर्गत कोई भी प्रांत, अपनी विधानसभा में बहुमत के निर्णय के द्वारा संविधान पर पुनर्विचार करा सकेगा। ऐसा प्रारंभिक दस वर्षों के बाद और तत्पश्चात् हर दस वर्ष की अवधि के बाद हो सकेगा।

मिशन ने इस बात पर जोर दिया कि उसका उद्देश्य यह नहीं था कि उक्त आधारों पर संविधान का विवरण तैयार कर दिया जाए। उसका लक्ष्य तो उस तंत्र का शुभारंभ करना था जिसके द्वारा भारतीय भारतीयों के लिए संविधान का निमार्ण कर सकें।

मत्रिमंडल मिशन ने यह बात जोर देकर कही कि जब तक नया संविधान बनकर तैयार हो तब तक के लिए तत्काल ही एक ऐसी अंतरिम सरकार की स्थापना करनी आवश्यक है जिसे प्रमुख राजनीतिक दलों का समर्थन प्राप्त हो और जिसमें युद्ध-सदस्य के विभाग सहित सारे विभाग जनता के पूर्ण विश्वास-भाजन भारतीय नेताओं के हाथों में रहें। सत्ता हस्तांतरण से उत्पन्न प्रश्नों के समाधान के लिए मिशन योजना में संघ की संविधान सभा और ब्रिटिश सरकार के बीच एक संधि की व्यवस्था थी। मिशन को आशा थी कि भारत राष्ट्रमंडल का सदस्य बना रहने का निश्चय करेगा किंतु साथ ही उसे पूरा अधिकार था कि वह चाहे तो राष्ट्रमंडल से अलग हो जाए।

मिशन योजना का मूल्यांकन

मंत्रि-मिशन द्वारा प्रस्तुत योजना का मूल्यांकन करते समय यह आवश्यक है कि उन परिस्थितियों को ध्यान में रखा जाए जिनके अंतर्गत यह योजना रखी गई। जब मुसलिम लीग की पाकिस्तान की माँग और कांग्रेस के अविभाजित भारत के आग्रह के बीच समझौते के सब प्रयास विफल हो गए तब मिशन ने यह योजना सामने रखी। योजना में दोनों पराकाष्ठाओं के

बीच का, समझौते का मार्ग अपनाया गया था, अतः स्वाभाविक था कि विभिन्न पक्षों के दृष्टिकोण से उसमें बहुत सी कमियाँ मालूम देतीं। (1) यद्यपि पाकिस्तान की माँग अस्वीकार कर दी गई थी, तथापि प्रांतों के वर्गीकरण के द्वारा उसका सार मान लिया गया था। प्राँतों को दिए गए अधिकारों में देश के विभाजन के बीज निहित थे। लगता था कि योजना ने सिद्धांततः मुसलिम लीग के द्विराष्ट्र सिद्धांत को मान लिया है। संविधान सभा के लिए चुनाव सांप्रदायिक आधार पर होने थे, सांप्रदायिक प्रश्नों के निर्णय के लिए जातिगत बहुमत की आवश्यकता थी और प्रांतों का वर्गीकरण भी सांप्रदायिक आधार पर किया गया था। इस प्रकार सांप्रदायिकता को बढ़ावा और राष्ट्रीयता को भारी आघात पहुँचा। (2) प्रस्तावित संविधान सभा की सांविधानिक शक्तियों पर मिशन योजना का अंकुश लगा हुआ था। वह योजना की परिधि के भीतर ही काम कर सकती थी, अतः उसे प्रभुतासम्पन्न नहीं माना जा सकता था। उसका बनाया संविधान केवल संघ पर लागू होना था। (3) प्रांतों और उनके वर्गीकरण तथा अंतरिम सरकार आदि से संबंधित प्रावधान इतने अस्पष्ट थे कि उनकी परस्पर विरोधी व्याख्या संभव थी। लीग और कांग्रेस ने उनकी अपनी-अपनी व्याख्या की जिसके परिणामस्वरूप योजना की सफलता असंभव हो गई। (4) प्रस्तावित संघ योजना में केंद्र को बहुत कमजोर रखा गया था। भारत के इतिहास से पता चलता है कि जब-जब केंद्र की शक्ति क्षीण हुई, देश क्षत-विक्षत हो गया और विदेशी आक्रांताओं ने उसे रौंद डाला। भारत के स्वर्णकाल वही रहे हैं जब केंद्र सशक्त रहा। (5) योजना ने सिक्खों के प्रति न्याय नहीं किया क्योंकि उन्हें मुसलमानों की दया पर छोड़ दिया गया था।

इन सबके बावजूद, जैसा कि गाँधीजी ने कहा था, मंत्रि-मिशन की योजना "उस समय की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में सबसे उत्कृष्ट योजना थी, उसमें ऐसे बीज थे जिनसे दुःख की मारी भारत-भूमि यातना से मुक्त हो सकती थी।" और यदि हम गौर से देखें तो वस्तुतः उसकी कमियाँ हमारी ही कमियाँ थीं, क्योंकि कांग्रेस और लीग आपस में समझौता न कर सकीं, इसीलिए मिशन को अपनी योजना बनानी पड़ी जो उनके विचार से भारत में ब्रिटिश शासन का शीघ्रातिशीघ्र अंत कर सके और विभिन्न दलों को भावी संविधान का निर्माण करने के लिए एक दूसरे के करीब ला सके।

मंत्रि-मिशन योजना कई दृष्टियों से बड़ी महत्वपूर्ण थी और उसमें कई गुण थे: (1) योजना ने पाकिस्तान की माँग को अस्वीकार कर देश की एकता और अखंडता की रक्षा करने का प्रयास किया। सार रूप में मिशन योजना कांग्रेस की ओर से मौलाना आज़ाद द्वारा प्रस्तुत संघ योजना का ही संशोधित रूप थी। (2) देश का विभाजन किए बगैर इस योजना ने अल्पसंख्यकों की वास्तविक शंकाओं और बहुसंख्यकों की निरंकुशता के भय से रक्षा करने की कोशिश की। पाकिस्तान से अल्पसंख्यकों को जो भी लाभ हो सकते थे वह सब योजना में थे पर उससे होने वाली हानि और बुराइयों से देश को बचा दिया गया था। (3) संविधान सभा का निर्माण जनसंख्या के लोकतंत्रात्मक सिद्धांत पर होना था। यद्यपि निर्वाचन सांप्रदायिक आधार पर होने थे फिर भी सांप्रदायिकता का क्षेत्र

सीमित कर दिया गया था। केवल मुसलमानों और सिक्खों को सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व दिया गया था, आँग्ल-भारतीयों, भारतीय ईसाईयों, यूरोपीयों आदि को नहीं। (4) प्रस्तावित संविधान सभा और अंतरिम सरकार दोनों पूर्णतः भारतीय होने थे। (5) सबसे बड़ी बात यह थी कि पहली बार इस योजना के द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भारत का पूर्ण स्वाधीनता का, अपना संविधान स्वयं बनाने का, और राष्ट्रमंडल में रहने या न रहने का अधिकार स्वीकार किया था और भारत से ब्रिटिश शासन शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करने की दिशा में कारगर कदम उठाया था।

योजना की स्वीकृति

कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने 17 मई को मिशन योजना पर विचार किया और (1) प्रांतों के समूहों में वर्गीकरण के बारे में; तथा (2) संविधान सभा की प्रभुत्व संपन्नता के बारे में मंत्रि-मिशन से सफाई माँगी। कांग्रेस की व्याख्या के अनुसार प्रांतों का (क), (ख), (ग) समूहों में वर्गीकरण अनिवार्य नहीं ऐच्छिक होना चाहिए था। उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत और असम (ख) और (ग) समूहों में मिलने के विरुद्ध थे। विशेषकर असम का मुसिलम-बहुल प्रांतों के साथ मिलाया जाना असंगत था क्योंकि असम में हिंदुओं की बहुतायत थी। मंत्रि-मिशन ने कांग्रेस द्वारा उठाए गए प्रश्नों का उत्तर दिया अपने 25 मई के वक्तव्य द्वारा, जिसमें कहा गया था कि मिशन योजना एक सुगठित योजना थी और उसे पूरी की पूरी को ही स्वीकार या अस्वीकार किया जा सकता था। वर्गीकरण की योजना अनिवार्य थी और संविधान सभा उससे बाध्य थी। प्रांतों को यह अधिकार नहीं था कि वे चाहें तो निर्दिष्ट समूह में शमिल नहीं हो। संविधान सभा को योजना के भीतर रहकर कार्य करना था, योजना के प्रावधानों में परिवर्तन आपसी सहमति से ही हो सकता था। इन सीमाओं के अतिरिक्त संविधान सभा अपने कार्य में स्वतंत्र थी। ब्रिटिश सरकार का ऐसा कोई इरादा नहीं था कि वह संविधान सभा के कार्य में दखल दे या उसके निर्णयों का आदर न करे। इस सफाई के बाद कांग्रेस ने मंत्रि-मिशन योजना को स्वीकार तो कर लिया किंतु वर्गीकरण के बारे में वह अपनी व्याख्या पर अड़ी रही जिसके अनुसार वर्गीकरण ऐच्छिक था।

दूसरी ओर जिन्ना भी मंत्रि-मिशन योजना से संतुष्ट नहीं थे। मिशन ने पाकिस्तान की माँग को दृढ़तापूर्वक ठुकरा दिया था। 22 मई को शुरू हुई मुसलिम लीग कौंसिल की बैठक में योजना पर तीन दिन तक विचार हुआ। अंत में यह सोचा गया कि योजना में जो कुछ दिया गया था उससे अधिक अब कुछ नहीं मिल सकता था। अतः लीग ने भी योजना को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया। किंतु इस स्वीकृति के पीछे कितनी सचाई थी यह लीग कौंसिल के 6 जून के प्रस्ताव से साफ हुआ। लीग ने मिशन योजना को केवल इसलिए स्वीकारा था क्योंकि इससे दिए गए (ख) और (ग) समूहों में 6

प्रांतों के "अनिवार्य वर्गीकरण" में पाकिस्तान की नींव निहित थी। प्रस्ताव में कहा गया था:

"ताकि किसी को भी इस विषय में कोई संदेह न रहे, लीग कौंसिल इस बात को दोहराती है कि भारत में मुसलमानों का अपरिवर्तनीय ध्येय एक पूर्ण और प्रभुतासंपन्न पाकिस्तान की प्राप्ति है और इस ध्येय की सिद्धि के लिए भारत के मुसलमान, यदि आवश्यक हुआ तो, यथाशक्ति सभी उपायों का प्रयोग करेंगे तथा किसी भी त्याग और यातना को अधिक नहीं समझेंगे।"

अंतरिम सरकार

इस प्रकार कांग्रेस और मुसलिम लीग दोनों के द्वारा मिशन योजना के स्वीकार कर लिए जाने के बाद वायसराय ने भारतीय नेताओं से अंतरिम सरकार के निर्माण के बारे में पत्र-व्यवहार शुरू किया। कांग्रेस चाहती थी कि अंतरिम सरकार केंद्रीय विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी मंत्रिमंडल के रूप में कार्य करे और गवर्नर-जनरल की स्थिति अन्य डोमिनियनों की तरह सांविधानिक प्रधान की हो। वायसराय ने स्थिति स्पष्ट करते हुए आश्वासन दिया कि ब्रिटिश सरकार भारत की अंतरिम सरकार को दिन प्रतिदिन के प्रशासन में अधिकतम स्वतंत्रता देना चाहती है। एक और प्रश्न था अंतरिम सरकार में विभिन्न दलों के प्रतिनिधित्व का। जब काफी पत्र-व्यवहार के बावजूद अंतरिम सरकार की संरचना के बारे में कोई हल न निकल सका तो मंत्रि-मिशन ने हस्तक्षेप किया और 16 जून के वक्तव्य द्वारा एक निर्णायक घोषणा की कि वायसराय अमुक 14 व्यक्तियों को अंतरिम सरकार की सदस्यता स्वीकार करने का न्यौता दे रहे हैं। इस वक्तव्य के अनुसार कांग्रेस को 6 स्थान (5 सवर्ण हिंदू और एक अनूसूचित) मुसलिम लीग को 5 तथा सिक्खों, भारतीय इसाईयों और पारसियों को एक-एक स्थान दिया गया था। कांग्रेस के नामों में वायसराय ने किसी राष्ट्रवादी मुसलमान को नहीं रखा था। कांग्रेस ने आग्रह किया कि अपने स्थानों में से एक स्थान वह राष्ट्रवादी मुसलमान को दे। वायसराय ने जिन्ना के विरोध के कारण इस माँग को अस्वीकार कर दिया। वायसराय ने लीग को यह आश्वासन भी दिया कि यदि मुख्य दलों में से किसी भी दल का बहुमत किसी प्रमुख सांप्रदायिक प्रश्न के विरुद्ध हो, तो अंतरिम सरकार उस पर कोई निर्णय नहीं कर सकेगी। मुसलिम लीग ने मिशन की 16 मई की योजना स्वीकार कर ली और वह 16 जून के वक्तव्य के आधार पर अंतरिम सरकार में सम्मिलित होने के लिए तैयार हो गई

25 जून को कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई जिसमें 16 मई की मिशन योजना की स्वीकृति दोहराई गई और भारत का भावी संविधान बनाने के लिए संविधान सभा में भाग लेने की सहमति प्रकट की गई किंतु अंतरिम सरकार संबंधी 16 जून के प्रस्तावों को नामंजूर कर दिया क्योंकि वह अपने राष्ट्रीय स्वरूप का परित्याग नहीं कर सकती

थी; "न ही वह किसी कृत्रिम बराबरी को ही स्वीकार कर सकती थी और न ही किसी सांप्रदायिक वर्ग के निषेधाधिकार के लिए सहमत हो सकती थी"।

इसी बीच दो घटनाएँ ऐसी हुईं जिनका मुसलिम लीग के रुख पर गहरा प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश भारतीय प्रांतों के लिए जो 296 स्थान निर्धारित किए गए थे, उनके लिए चुनाव जुलाई, 1946 तक पूरे हो गए। संविधान सभा के चुनावों में ब्रिटिश भारत के 296 स्थानों में से 205 कांग्रेस ने जीते। कांग्रेस को इतने भारी बहुमत में पाकर जिन्ना को भारी निराशा और आशंका हुई।

22 जुलाई को वायसराय ने अंतरिम सरकार के बारे में 16 जून के वक्तव्य के अनुरूप ही ताजा प्रस्ताव कांग्रेस और लीग के अध्यक्षों के सामने रखे। इनके अनुसार अंतरिम सरकार में 14 सदस्य होने थे जिसमें 6 कांग्रेस मनोनीत करती (इनमें से एक अनुसूचित जातियों का प्रतिनिधि होना चाहिए था), 5 मुसिलम लीग और अन्य तीन अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व करने के लिए वायसराय स्वयं चुनते। कांग्रेस और मुसलिम लीग अपने स्थानों पर किसी को भी चुन सकती थीं और कोई भी एक दूसरे द्वारा चुने नामों पर आपत्ति नहीं कर सकता था। अर्थात् कांग्रेस चाहती तो अपने स्थानों में से एक या अधिक राष्ट्रवादी मुसलमानों को दे सकती थी। साथ ही वायसराय ने यह औपचारिक शर्त भी रद्द कर दी कि सांप्रदायिक प्रश्नों पर दोनों दलों की स्वीकृति की आवश्यकता होगी तथापि "यदि कांग्रेस सहज रूप से इस प्रकार की परिपाटी का विकास करना चाहे तो वायसराय को प्रसन्नता होगी"। लीग ने इन शर्तों पर अंतरिम सरकार में सम्मिलित हाने से मना कर दिया और 27-29 जुलाई को लीग की परिषद ने एक प्रस्ताव पास किया कि वह 16 मई की योजना की अपनी स्वीकृति वापस लेती है और 'स्वतंत्र' पूर्ण प्रभुत्वसंपन्न पाकिस्तान राज्य की स्थापना के लिए "सीधी कार्यवाही" करेगी। 16 अगस्त सीधी कार्यवाही शुरू करने की तारीख तय हुई। सीधी कार्यवाही का उद्देश्य था हिंदुओं की मारकाट शुरू कर, सांप्रदायिक दंगों और आतंक का वातावरण फैलाकर, यह सिद्ध करना कि हिंदू और मुसलमान साथ-साथ रह ही नहीं सकते और देश के विभाजन के अतिरिक्त और कोई रास्ता है ही नहीं। 16 अगस्त को देश के विभिन्न भागों में व्यापक दंगे-फसाद हुए। बंगाल तथा सिंध में जहाँ मुसलिम लीग की सरकारें थी 16 अगस्त को सरकारी छुट्टी कर दी गई। बंगाल के मुख्यमंत्री ने मुसलिम जनता को हिंदुओं के विरुद्ध भड़काने वाले भाषण दिए। विशेषकर कलकत्ते में बड़े पैमाने पर रक्तपात हुआ। सरकारी अनुमानों के अनुसार 500 हिंदू मार डाले गए और 15-20 हजार को चोटें आईं। संपत्ति लूटने की तथा महिलाओं के साथ विभिन्न प्रकार के अत्याचार और बलात्कार करने की भी असंख्य घटनाएँ हुईं।

मौलाना आज़ाद के शब्दों में:

"16 अगस्त भारत के इतिहास में काला दिन है क्योंकि इस दिन सामूहिक हिंसा ने कलकत्ते की महानगरी को रक्तपात, हत्या और भय की बाढ़ में डुबो दिया--ऐसी

घटनाएँ घटीं जिनकी अब तक के इतिहास में कोई मिसाल न थी। सैकड़ों जानें गईं, सहस्त्रों व्यक्ति घायल हुए और करोड़ों रुपए की संपदा नष्ट हो गई। मुसलिम लीग ने जुलूस निकाले जिनमें लूट-मार करने और आग लगाने की वारदातें हुईं।" शीघ्र ही सांप्रदायिक दंगों की ज्वाला सारे देश में फैल गई। एक

जगह का बदला दूसरी जगह लेने का सिलसिला शुरू हो गया-- नोआखली, बिहार, संयुत प्रांत, गुजरात और पंजाब-- और फिर एक वर्ष से अधिक समय तक दानवता का जो नंगा नृत्य हुआ वह भारत के इतिहास पर ऐसा धब्बा है जिसकी याद कर भारतीय उपमहाद्वीप पर बसने वाले प्रत्येक प्रबुद्ध हिंदू, सिक्ख और मुसलमान का सिर शर्म से झुकता रहेगा।

उधर कांग्रेस ने वायसराय के ताजा प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया था और 12 अगस्त को वायसराय ने कांग्रेस अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू को आमंत्रण दिया कि वे अंतरिम सरकार की तत्काल स्थापना के लिए प्रस्ताव प्रस्तुत करें।

पंडित नेहरू ने फिर एक बार प्रयत्न किया कि मिली-जुली सरकार के निर्माण में उन्हें लीग का सहयोग प्राप्त हो जाए पर वे अपने प्रयत्न में सफल न हो सके। विवश होकर बिना लीग के ही 24 अगस्त, 1946 को पहली अंतरिम राष्ट्रीय सरकार की घोषणा कर दी गई। इसमें कांग्रेस के प्रतिनिधि तथा कुछ निर्दलीय सदस्य थे। सदस्यों के नाम इस प्रकार थे: पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, डा॰ राजेन्द्र प्रसाद, आसफ़ अली, राजगोपालचारी, शरतंचन्द्र बोस, डा॰ जॉन मथाई, सरदार बलदेवसिंह, सर शफ़ात अहमद ख़ाँ, जगजीवनराम, सैयद अली ज़हीन, और डॉ सी॰ एच॰ भाभा। औपचारिक रूप में यह सब वायसराय की कार्यकारिणी परिषद के सदस्य थे और वायसराय परिषद का अध्यक्ष था। पंडित नेहरू को परिषद का उपाध्यक्ष बनाया गया तथा उन्होंने और 11 अन्य सदस्यों ने 2 सितंबर, 1946 को अपने पदों की शपथ ग्रहण की। सदस्यों में तीन गैर-लीगी मुसलमान थे। लीग अपने पाँच मनोमीत सदस्यों के साथ सरकार में प्रवेश कर सके, इसके लिए द्वार खुला रखा गया था।

अक्तूबर के अंत तक वायसराय लार्ड वेवेल ने मुसलिम लीग को अंतरिम सरकार में शामिल होने के लिए किसी प्रकार राजी कर लिया। 26 अक्तूबर को अंतरिम सरकार का पुनर्गठन किया गया और तीन मूल सदस्यों के स्थान पर लीग के 5 प्रतिनिधि सरकार में शामिल हो गए। किंतु, लीग ने अपना मिशन योजना की स्वीकृति वापस लेने का तथा सीधी कार्यवाही करने का 29 जुलाई का प्रस्ताव रद्द नहीं किया। लीग के प्रतिनिधियों ने सरकार के अन्य सदस्यों के साथ सहयोग भी नहीं किया और उसके काम में अनेक बाधाएँ ही उपस्थित कीं। लीग ने संविधान निर्माण के कार्य में भी सहयोग देना स्वीकार नहीं किया। स्पष्ट था कि लीग अंतरिम सरकार में अपनी पाकिस्तान की लड़ाई को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से आई थी और मिशन योजना को सफल बनाने में सहयोग देने का उसका कोई इरादा नहीं था, यद्यपि वायसराय ने पड़ित नेहरू से स्पष्ट कहा था कि

जिन्ना ने उन्हें विश्वास दिया है कि लीग सरकार और संविधान सभा के कार्य में सहयोग करने के विचार से ही अंतरिम सरकार में आ रही थी। मुसलिम लीग के शामिल होने से पहले अंतरिम सरकार विधानपालिका के प्रति सयुंक्त उत्तरदायित्व रखने वाली एक टीम की तरह काम कर रही थी और पंडित नेहरू के नेतृत्व में एक मंत्रिमंडल का रूप लेती जा रही थी। थोड़े से समय में ही उसने कई स्वस्थ परंपराएँ डालने का प्रयास किया। किंतु लीग के आते ही कुछ भी काम कर सकना कठिन हो गया। लियाकतअली ख़ाँ जिनके पास वित्त विभाग था, अन्य सभी विभागों के काम में रोड़े अटकाने लगे। मुसिलम लीग के सदस्यों ने पंडित नेहरू को अंतरिम सरकार का नेता मानना स्वीकार नहीं किया। वस्तुतः एक मिली-जुली सरकार न होकर अंतरिम सरकार अब दो गुटों में बँट गई, जिनके नेता अलग-अलग थे, जिनके उद्‌देश्य भिन्न थे और जो अलग-अलग काम करते थे। 20 नवंबर को वायसराय ने संविधान सभा की 9 दिसंबर को होने वाली पहली बैठक में भाग लेने के लिए निर्वाचित प्रतिनिधियों के नाम निमंत्रण-पत्र जारी किए। लेकिन, लीग संविधान सभा का बहिष्कार करने के अपने निर्णय पर अब भी अटल थी। साथ ही उसने अब कुछ ताजा आश्वासनों की माँग की तथा संविधान सभा की बैठक को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कराना चाहा।

लंदन सम्मेलन

नवंबर 1946 में ब्रिटिश सरकार की ओर से नेहरू, जिन्ना, पटेल, लियाकत अली और बलदेव सिंह को लंदन बुलाया गया। लंदन सम्मेलन में विशेषतः वर्गीकरण के प्रश्न पर विचार हुआ किंतु कोई समझौता न हो सका। सम्मेलन की असफलता पर 6 दिसंबर, 1946 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने अपने वक्तव्य में वर्गीकरण के विषय में कांग्रेस की व्याख्या को गलत बताया और कहा कि प्रांत इस विषय में स्वतंत्र नहीं है, वर्गीकरण ऐच्छिक नहीं, अनिवार्य है। अतः सभी दलों को उसे योजना के अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार करना चाहिए। प्रधानमंत्री ने आगे कहा:

''अगर ऐसी संविधान सभा जिसमें भारतीय जनता के एक बड़े वर्ग के प्रतिनिधि अनुपस्थित हों कोई संविधान बना लेती है तो यह निश्चित है कि सम्राट की सरकार ऐसे संविधान को देश के किसी भाग पर उसकी इच्छा के विरुद्ध लागू नहीं करेगी।''

कांग्रेस के क्षेत्रों में इस वक्तव्य की कड़ी प्रतिक्रिया हुई। कुछ समय पहले 15 मार्च को, प्रधानमंत्री एटली ने ही घोषणा की थी कि ब्रिटिश सरकार किसी अल्पसंख्यक वर्ग को यह अधिकार नहीं दे सकती कि वह बहुसंख्यक समाज की प्रगति के पथ पर दीवार बनकर खडा हो जाए। वर्तमान वक्तव्य इस प्रकार 15 मार्च के वक्तव्य का बिल्कुल उल्टा था। सम्मेलन के परिणाम से केवल जिन्ना को कुछ प्रसन्नता हो सकती थी क्योंकि उनका वर्गीकरण की अनिवार्यता विषयक आग्रह स्पष्टतया मान लिया गया तथा उन्हें यह भी पक्का

विश्वास हो गया कि बगैर लीग के सहयोग के बने संविधान को मुसिलम प्रांतों पर लादा नहीं जा सकता था। इस प्रकार मिशन योजना को सफल-असफल बनाने की कुंजी एक बार फिर लीग के हाथों में आ गई।

उधर देश में सांप्रदायिक स्थिति और कानून और व्यवस्था की समस्या दिन-प्रतिदिन बिगड़ती जा रही थी। ऐसी हालत में ब्रिटिश सरकार ने यथाशीघ्र भारत को छोड़ने का निश्चय किया। 20 फरवरी, 1947 को प्रधानमंत्री एटली ने घोषणा की कि हर हालत में जून 1948 से पहले-पहले भारत में ब्रिटिश शासन का अंत कर दिया जाएगा और सत्ता जिम्मेदार भारतीय हाथों में सौंप दी जाएगी। यह घोषणा करते समय ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने आशा प्रकट की कि अँग्रेजों के भारत से हट जाने के बाद भारतीय नेता वस्तुस्थिति को समझकर यथार्थवादी आधार पर देश की समस्याओं का सामना कर सकेंगे। लेकिन घोषणा में यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि यदि जून 1948 से पहले भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों में समझौता न हो सका तो उस स्थितिं में सम्राट की सरकार को यह सोचना पड़ेगा कि वह ब्रिटिश भारत की केंद्रीय सरकार का दायित्व किसे सौंपे-किसी केंद्रीय सरकार को पूरा दायित्व या कुछ क्षेत्रों में दायित्व वर्तमान प्रांतीय सरकारों को अथवा अन्य किसी ऐसे ढंग से जो भारतीयों के लिए हितकर हो? 20 फरवरी, 1947 को घोषणा का पंडित नेहरू ने स्वागत किया। उन्होंने कहा यह एक बुद्धिमत्तापूर्ण और साहसपूर्ण निर्णय है। इससे भारत की स्थिति में कुछ यथार्थता और गतिशीलता आएगी। पंडित नेहरू ने आगे कहा:

> ''अपनी जनता की ओर से ब्रिटिश सरकार ने भारत की जनता के प्रति अपनी सद्भावनाएँ और शुभकामनाएँ व्यक्त की हैं। हमारे पीछे संघर्ष और वैमनस्य का लंबा अतीत है। लेकिन, हम हृदय से विश्वास करते हैं कि यह अतीत अब बीत गया, अब हम एक शांतिपूर्ण और सहयोगपूर्ण संधिकाल की आशा करते हैं जिसके बाद दोनों देशों की भलाई के लिए तथा विश्व भर में शांति और स्वतंत्रता की बढ़ोत्तरी के लिए, भारत और ब्रिटेन में मित्रता के और निकट संबंध स्थापित होंगे''।

माँउटबेटेन योजना

मार्च, 1947 में लॉर्ड माँउटबेटेन को नया वायसराय बनाकर भारत भेजा गया। वे 22, मार्च को भारत पहुँचे। माँउटबेटेन शीघ्र ही इस नतीजे पर पहुँचे कि सांप्रदायिक दंगों को यदि और भी अधिक विकराल रूप धारण करने से रोकना है तो भारतीय हाथों में सत्ता सौंपने में और भी जल्दी करनी चाहिए। उन्होंने अंततः इस काम के लिए 15 अगस्त, 1947 की तारीख तय की। कांग्रेस भी धीरे-धीरे समझने लगी थी कि विभाजन होकर ही रहेगा। कांग्रेस कार्यकारिणी ने अपने 8 मार्च के प्रस्ताव में माँग की थी कि पंजाब और बंगाल का ऐसा विभाजन कर दिया जाए जिसके द्वारा मुसलिम बहुल क्षेत्र अन्य क्षेत्र से अलग कर दिए जाएँ। 28 अप्रैल को संविधान सभा में बोलते हुए डा॰ राजेन्द्र प्रसाद ने भी कुछ ऐसा इशारा किया

कि हो सकता है भारतीय संघ में सभी प्रांत शामिल न हों, ऐसी स्थिति में हम आग्रह करेंगे कि "देश के सभी भागों पर एक ही सिद्धांत लागू होना चाहिए और किसी भी भाग पर उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई संविधान लादा नहीं जाना चाहिए। इसका अर्थ होगा न केवल भारत का विभाजन अपितु कुछ प्रांतों का भी विभाजन।" प्रांतों के विभाजन के सुझाव का जिन्ना ने कड़ा विरोध किया। आधे पंजाब और आधे बंगाल वाले "कुरा लगे हुए" पाकिस्तान को तो वे वर्षों पहले ठुकरा चुके थे।

भारतीय राजनीतिक दलों के नेताओं से बातचीत करने तथा देश की तत्कालीन स्थिति का निकट से अध्ययन करने के बाद लार्ड माँउटबेटेन भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि देश का विभाजन ही एकमात्र उपाय है। अत: एटली के 20 फरवरी, 1947 के वक्तव्य के दायरे में उन्होंने भारत-विभाजन की एक योजना तैयार की, विवशता की स्थिति में कांग्रेस ने भी इस योजना को मान लिया,। गांधीजी अंत तक विभाजन के विरुद्ध रहे। उन्होंने कड़े शब्दों में कहा कि "यदि सारा भारत भी आग की लपटों में घिर जाए फिर भी पाकिस्तान नहीं आ सकेगा" अथवा "भारत का विभाजन मेरे शव पर ही हो सकेगा"। माँउटबेटेन ने नेहरू और पटेल को समझा-बुझाकर तैयार कर लिया था। बाद में, ब्रिटेन में विरोधी दल के नेताओं से परामर्श करने के बाद, ब्रिटिश सरकार ने 3 जून, 1947 को एक ताजा नीति-संबंधी वक्तव्य दिया। 3 जून के इस वक्तव्य में दी गई योजना में भारत के विभाजन की अनिवार्यता को स्वीकार कर लिया गया था और साथ ही बंगाल और पंजाब के विभाजन की अनिवार्यता पर भी जोर दिया गया था। अत: ऐसी व्यवस्था की गई थी कि भारत और पाकिस्तान नामक दो पृथक डोमीनियनों की स्थापना होगी तथा बंगाल और पंजाब का विभाजन कर दिया जाएगा। बंगाल और पंजाब की विधानसभाओं में मुसलिम और गैर-मुसलिम जिलों के प्रतिनिधि अलग-अलग भारत अथवा पाकिस्तान में सम्मिलित होने के प्रश्न पर मतदान देंगे। पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत और सिलहट (असम का मुसलिम-बहुल क्षेत्र) वयस्क मताधिकार पर आधारित लोक-निर्णय द्वारा अपने भविष्य का निर्णय करेंगे। सिंध में विधान सभा समग्र रूप से इस प्रश्न पर मतदान देगी कि सिंध को भारत में सम्मिलित होना है या पाकिस्तान में। बलूचिस्तान को अपनी प्रतिनिधिक सभाओं की एक संयुक्त बैठक में अपने भविष्य का निर्णय करना था।

इन व्यवस्थाओं के परिणाम वही निकले जिनकी संभावना थी। पंजाब के पश्चिमी और बंगाल के पूर्वी जिलों, पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, सिंध और बलूचिस्तान ने पाकिस्तान में सम्मिलित होने का निर्णय किया। 3 जून को अपने प्रसारण-संदेश का अंत करते हुए पंडित नेहरू ने संतप्त वाणी में कहा:

> "कई पीढ़ियों से हम एक स्वाधीन और संयुक्त भारत का सपना देखते और उसके लिए संघर्ष करते आ रहे थे। देश के कुछ भागों को अगर वे चाहें तो, अलग हो जाने देने का प्रस्ताव हम में से किसी के लिए भी सोचना दु:खद है। फिर भी मुझे विश्वास है कि हमारा वर्तमान निर्णय अधिक व्यापक दृष्टिकोण से उचित है। जिस संयुक्त

भारत के लिए हमने प्रयास किया था वह किसी जोर-जबरदस्ती पर आधारित नहीं होना था अपितु वह तो स्वाधीन लोगों की स्वेच्छा और स्वतंत्रपूर्वक मानी गई साझेदारी थी। हो सकता है कि इस प्रकार हम उस संयुक्त भारत तक अधिक जल्दी पहुँच जाएँ और उसकी जडें अधिक स्थायी और मजबूत हों।''

विभाजन की अनिवार्यता

इस बारे में दो मत नहीं हो सकते कि भारतवासियों का विशाल बहुमत विभाजन का कट्टर विरोधी था। हिंदू और सिक्ख तो उसके विरुद्ध थे ही, मुसलमानों का भी एक वर्ग उसके खिलाफ था। फिर भी, इस बारे में विभिन्न मत हो सकते हैं कि कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं–विशेषकर नेहरू और पटेल–ने उस समय, सांप्रदायिक आधार पर, देश के विभाजन और पाकिस्तान की स्थापना को स्वीकार कर उचित किया या अनुचित। किंतु, इतिहास पर कोई भी कठोर निर्णय डालने से और तत्कालीन नेताओं ने जो कुछ किया उसके लिएं आज उनकी भर्त्सना करने से पहले, यह उचित होगा कि हम अपने आपको उस समय में ले जाकर रखें तथा तब की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही नेताओं द्वारा देश का विभाजन स्वीकार करने के औचित्य पर विचार-विवेचन करें। मार्च, 1947 में लार्ड माँउटबेटेन भारत आए और उन्होंने भारतीय नेताओं से बातचीत करनी शुरू की। पाकिस्तान की माँग के प्रति कांग्रेस के रुख में मार्च और जून, 1947 के बीच परिवर्तन आया। देखना होगा कि इन दिनों देश की स्थिति क्या थी और कांग्रेस के नेताओं के सामने विकल्प क्या थे: (1) कांग्रेस और लीग में किसी तरह भी कोई समझौता नहीं हो पाया था क्योंकि लीग पाकिस्तान की माँग से टस से मस होने को तैयार नहीं थी। (2) देश सांप्रदायिक दंगों की विभिषका में जल रहा था; हिंदू मुसलमान एक दूसरे के रक्त से होली खेल रहे थे; संपत्ति, महिलाओं का सम्मान, मासूम बच्चों की जान, कुछ भी सुरक्षित न था; अराजकता का साम्राज्य था। नेताओं को लगा कि निर्दोष देशवासियों की हत्याएँ होती रहें इससे तो पाकिस्तान बन जाना अच्छा था। (3) अँग्रेज अफसरों और ब्रिटिश सरकार की सहानुभूति लीग के साथ थी। सांप्रदायिक दंगों में भी अँग्रेज अफसरों ने लीग का साथ दिया। यदि अँग्रेज न चाहते तो दंगे इस व्यापक पैमाने पर होते ही नहीं और होते भी तो उन्हें पुलिस और फौज के समुचित प्रयोग से दबाया जा सकता था। किंतु अँग्रेज कूटनीतिज्ञ संभवत: सोचते थे कि संयुक्त भारत बहुत शक्तिशाली हो जाएगा और संभवत: तब भारत में ब्रिटेन के आर्थिक और औद्योगिक स्वार्थों की रक्षा न की जा सके। पाकिस्तान बन जाने से दोनों आपस में लड़ते रहेंगे, कमजोर रहेंगे तथा पश्चिमी राष्ट्रों पर आश्रित रहेंगे। विशेषकर उन्हें विश्वास था कि पाकिस्तान अधिक मैत्रीपूर्ण रहेगा और उसकी भूमि में ब्रिटिश हितों को एक स्थायी प्रभाव-क्षेत्र मिल जाएगा। गैर-कानूनी ढंग से अँग्रेज फौजी अफसरों की मदद से हथियारों में तस्कर व्यापार चल रहा था तथा कुछ देशी नरेशों के सहयोग से भारत की एकता को नष्ट करने का षड्यंत्र रचा जा रहा था। सरदार

पटेल ने स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है:

> "तब मुझे समझ में आया कि किस प्रकार राजनीतिक दिमाग की साजिश से हमारे हितों की हत्या की जा रही थी और तभी मैं इस निश्चय पर पहुँचा कि सर्वोत्तम मार्ग यही था कि किसी भी कीमत पर, देश का विभाजन मान कर भी, किसी प्रकार इन विदेशियों से देश को छुटकारा दिलाया जाए। यह विचार भी मेरे मन में तभी आया कि देश को सुरक्षित और शक्तिशाली बनाने का एक रास्ता यही था कि शेष भारत का एकीकरण किया जाए।"

एक बार और भी इसी विषय पर प्रकाश डालते हुए सरदार पटेल ने कहा :

> "मुझे लगा कि यदि हमने विभाजन स्वीकार न किया, तो भारत बहुत से टुकड़ों में बँट जाएगा और बिल्कुल नष्ट हो जाएगा। मेरे एक वर्ष के आंतरिक सरकार के अनुभव ने मुझे सिखाया था कि जिस प्रकार हम लोग बढ़ रहे थे उसमें सर्वनाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। उस रास्ते एक नहीं अनेक पाकिस्तान बनते। प्रत्येक दफ्तर में एक छोटा पाकिस्तान होता।"

संविधान-सभा में बोलते हुए, सरदार पटेल ने और भी साफ-साफ शब्दों में बताया था कि किस प्रकार अँग्रेज अफसर जिलों में अपना कब्जा कायम रखे हुए थे तथा किस प्रकार उनकी साजिश से दंगे हो रहे थे। पंजाब में ऐसे ही एक जिले 'गुडगाँव' के जिलाधीश का सरदार पटेल ने वहाँ से तबादला कराना चाहा पर वे असफल रहे। उन्हीं के शब्दों में: "मैंने विभाजन मजबूरी की हालत में स्वीकार किया, जब हम ऐसी स्थिति में पहुँच गए थे कि सब कुछ खो बैठते... सरकार में मुसलिम लीग के 5 या 6 सदस्य थे जो देश का विभाजन कराने के लिए ही सरकार में आए थे।" (4) जैसा कि हम देख चुके हैं, अंतरिम सरकार में शामिल होने के बाद मुसलिम लीग ने सरकार का कोई भी काम ठीक से चला सकना असंभव कर दिया था। कांग्रेस के नेताओं का सिरदर्द लीग ने इतना बढ़ा दिया था कि अंत में तंग आकर, पंडित नेहरू के शब्दों में, इस "सिरदर्द से छुटकारा पाने के लिए वे सिर ही कटवा डालने को तैयार हो गए"। पटेल ने कहा यदि शरीर के अंग में जहर फैल गया हो तो उसे शीघ्र ही अलग कर देना चाहिए ताकि शेष सारे शरीर में जहर न फैले। (5) कांग्रेस को दो बुराइयों में से एक को चुनना था– देश का विभाजन अथवा गृह-युद्ध। कांग्रेस ने विभाजन को कम बड़ी बुराई समझा क्योंकि नेताओं को यह स्पष्ट हो गया था कि यदि देश का विभाजन न हुआ तो केंद्र दुर्बल रहेगा, कांग्रेस और लीग की मिली-जुली सरकार चल न पाएगी और देश प्रगति न कर सकेगा। उसमें बराबर मुसीबतें बनी रहेंगी तथा संघ के अंग बराबर उससे अलग होने का प्रयास करते रहेंगे। नेहरू के शब्दों में, "उन्होंने घटनाओं से विवश होकर ही विभाजन को स्वीकार किया।" कहते हैं पंडित नेहरू पहले विभाजन के विरोधी थे किंतु वे माँउटबेटेन से बहुत प्रभावित थे। आचार्य कृपलानी और मौलाना आज़ाद आदि का मत है कि पंडित जी माँउटबेटेन के सम्मोहन के ही शिकार हो गए। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की 12 जून को तथा कांग्रेस महासमिति की 14 और 15

जून, 1947 को दिल्ली में बैठक हुई जिनमें विभाजन की माँउटबेटेन योजना पर विचार-विमर्श हुआ। मौलाना आज़ाद, अन्य राष्ट्रवादी मुसलमान, पाकिस्तान में शामिल किए जाने वाले प्रदेशों के हिंदू-सदस्य तथा उत्तर प्रदेश के पुरूषोत्तम दास टंडन आदि ने योजना का विरोध किया। मौलाना आज़ाद ने कहा कि यदि कांग्रेस नेताओं ने विभाजन मान लिया तो इतिहास उन्हें कभी क्षमा नहीं करेगा किंतु नेहरू, पंत, कृपलानी, पटेल और अंत में गाँधी ने भी इसे स्वीकार करने की राय दी। पंत ने स्वीकृति का प्रस्ताव पेश करते हुए कहा:

> "3 जून की योजना की स्वीकृति ही देश के लिए स्वराज और स्वाधीनता पाने का एकमात्र मार्ग है। इसके अंतर्गत हम एक शक्तिशाली केंद्र वाला ऐसा भारतीय संघ बना सकते हैं जो राष्ट्र को प्रगति के पथ पर ले जा सके......आज हमारे सामने दो विकल्प हैं–3 जून की योजना की स्वीकृति या फिर आत्महत्या।"

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947

माँउटबेटेन योजना के आधार पर ब्रिटिश संसद ने 18 जुलाई, 1947 को भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 पास किया। इस अधिनियम के मुख्य उपबंध इस प्रकार थे : (1) 15 अगस्त, 1947 से भारत में भारत और पाकिस्तान नामक दो डोमीनियनों की स्थापना हो जाएगी। (2) भारत के राज्य-क्षेत्र में उन क्षेत्रों को छोड़कर जो पाकिस्तान में सम्मिलित होंगे, ब्रिटिश भारत के सभी प्रांत सम्मिलित होंगे। (3) पाकिस्तान के राज्य-क्षेत्र में पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब, सिंध और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत सम्मिलित होंगे। पूर्वी बंगाल प्रांत में असम का सिलहट जिला भी सम्मिलित है। (4) देशी राज्य दोनों में से किसी भी डोमिनियन में सम्मिलित हो सकते हैं। (5) प्रत्येक नए डोमिनियन के लिए एक गवर्नर-जनरल होगा। गवर्नर-जनरल की नियुक्ति सम्राट करेंगे और वह डोमिनियन के शासन के लिए सम्राट का प्रतिनिधि होगा। (6) नए डोमिनियनों के विधान-मंडलों को पूर्ण विधान-शक्ति प्राप्त होगी और उनकी कोई विधि इस आधार पर अवैध नहीं होगी कि वह ब्रिटिश संसद द्वारा निर्मित किसी वर्तमान अथवा भावी विधि के विरुद्ध हैं। (7) 15 अगस्त, 1947 के बाद से ब्रिटिश सरकार की उन क्षेत्रों के शासन संबंध में कोई जिम्मेदारी नहीं रहेगी जो इस दिन के तत्काल पहले ब्रिटिश भारत में सम्मिलित थे। (8) देशी राज्यों के ऊपर सम्राट का अधिराजस्व (पैरामाउँसी) समाप्त हो जाएगा और सम्राट तथा देशी शासकों के बीच जो संधियाँ या करार थे, उन सबका भी 15 अगस्त, 1947 के बाद से अंत हो जाएगा (9) प्रत्येक डोमिनियन की संविधान-सभा, डोमिनियन के विधान-मंडल की सारी शक्तियों का प्रयोग करेगी, (10) इस अधिनियम के उपबंधों को लागू करने तथा अन्य प्रासंगिक मामलों का प्रबंध करने के लिए जो भी उपाय आवश्यक होंगे, उन्हें गवर्नर-जनरल अपने आदेश द्वारा कर सकेगा।

14-15 अगस्त, 1947 की मध्य रात्रि के समय भारत स्वतंत्र हो गया। सदियों का

सपना पूरा हुआ। इस अवसर पर संविधान-सभा के सामने भाषण देते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था :

"वर्षों पूर्व हमने नियति के साथ एक प्रतिज्ञा की थी और वह समय आ गया है जबकि हम उस प्रतिज्ञा को सर्वांश में तो नहीं लेकिन अधिकांश में पूरा करेंगे। ठीक आधी रात के समय जबकि सारा संसार निद्रामग्न है, भारत में जीवन तथा स्वतंत्रता का स्वर्ण विहान होगा। इतिहास में कभी-कभार ही वह क्षण आता है, जब हम पुरातन युग से नूतन युग में प्रवेश करते हैं, जब एक युग का अंत हो जाता है और जब दीर्घकाल से सोई हुई राष्ट्र की आत्मा जाग उठती है। यह उचित ही है कि इस गंभीर अवसर पर हम प्रतिज्ञा करें कि हम भारत की, उसके लोगों की और इससे भी अधिक मानवता की सेवा करेंगे।"

15 अगस्त, 1947 को भारतीय इतिहास के एक युग का अंत हुआ और दूसरे का आरंभ। भारत में अँग्रेजों की प्राय: दो-सौ वर्षों की दासता का अंत हुआ। भारतीयों को अपने भाग्य का अपने मन के अनुरूप निर्माण करने का अवसर मिला। भारतीय नेताओं ने स्वेच्छा से लार्ड माँउटबेटेन को ही भारतीय डोमिनियन का प्रथम गवर्नर-जनरल चुना।

देश के सामने अनेक गंभीर समस्याएँ थीं और देशवासियों में उन सबका सामना करने का अदभ्य उत्साह और साहस भी था। जनता को आशा थी कि अब शीघ्र ही उसके दु:खों का अंत हो जाएगा। अत: स्वाभाविक था कि स्वतंत्रता का उत्सव, आजादी का जश्न देश के कोने-कोने में मनाया गया। उत्सवों का सबसे बड़ा केंद्र था राजधानी नई दिल्ली, जहाँ सत्ता का हस्तांतरण हुआ। किंतु, यह सब हर्षोल्लास अधिक समय तक न चल सका। अगले ही दिन सांप्रदायिक दंगों के फैलने के समाचार आने लगे और राजधानी में शोक छा गया। अपनी मृत्युशैय्या पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही कहा था कि अँग्रेज अवश्य ही भारत को छोड़ेंगे "लेकिन कैसा भारत वे छोड़ेंगे, कितना दु:ख भरा? जब सदियों पुरानी उनकी शासन की धारा अंत में सूख जाएगी तो अपने पीछे वे कितनी दलदल और कितनी कीचड़ छोड़ जाएँगे।"

एक व्यक्ति जो कहीं भी स्वतंत्रता दिवस के हर्षोल्लास में शामिल नहीं हुआ था पर जिसकी अनुपस्थिति सबको खली थी वह था गाँधी। वह थका-हारा राष्ट्र-पिता इस दिन भी दिल में कितना ही संताप लिए राजधानी से दूर गाँव-गाँव पैदल चलकर सांप्रदायिक हिंसा की विभीषिका के सताए परिवारों के अवशेषों को सांत्वना और सहानुभूति बाँट रहा था। यदि किसी के सपने सबसे अधिक टूटे थे तो वह व्यक्ति भी गाँधी था क्योंकि उसने जीवन-भर प्रेम और अहिंसा का पाठ पढ़ाया था तथा शांतिमय अहिंसात्मक उपायों से देश की एकता की रक्षा करने और उसे स्वतंत्र कराने के लिए संघर्ष किया था; पर आज जब स्वतंत्रता के साकार होने का क्षण आया तो देश में शांति, प्रेम और अहिंसा नहीं, अपितु घृणा, हिंसा और आतंक का साम्राज्य था। औरों के लिए भले ही यह विजय का क्षण रहा हो पर महात्मा गाँधी के लिए इससे अधिक दु:खदायी वातावरण और क्या हो सकता था जबकि उनकी आँखों

के सामने उनके सभी आदर्शों का खून हो गया हो।

इसमें दो राय नहीं हो सकती कि देश में स्वतंत्रता का विहान लाने का सबसे अधिक श्रेय महात्मा गाँधी को तथा उनके नेतृत्व में किए गए कांग्रेस के विभिन्न राष्ट्रीय आंदोलनों को मिलना चाहिए। यह भी सच है कि संसार के इतिहास में यह पहला अवसर था जब बिना हथियारों और लड़ाई के, अहिंसात्मक आंदोलनों के द्वारा, किसी परतंत्र देश ने इतने विशाल और शक्तिशाली साम्राज्य को सफलतापूर्वक चुनौती दी हो और सदियों की दासता के बंधनों से मुक्ति पाई हो। किंतु यह इतिहास के प्रति अन्याय होगा, यदि हम यह स्वीकार न करें कि जहाँ एक और स्वतंत्रता का श्रेय कांग्रेस को दिया जाता है, यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि जब स्वतंत्रता आई तो उनके पीछे अनेक कारण थे जैसे, (1) अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का दबाव; (2) रूस और अमरीका का ब्रिटिश सरकार पर जोर; (3)महायुद्ध के बाद ब्रिटेन की क्षीण शक्ति, (4) भारतीय सेनाओं, पुलिस और अन्य राजकीय सेवाओं में असंतोष के आसार और उनकी अँग्रेजी शासन के प्रति वफादारी से उठता हुआ विश्वास जिसमें 1946 के नौसेना विद्रोह की प्रमुख भूमिका थी; (5) आजाद हिंद फौज और नेताजी का शौर्य, वीरता और त्याग; (6) एशिया भर में उपनिवेशवाद और विदेशी आक्रांताओं के विरुद्ध बढ़ती हुई स्वतंत्रता की भावना की लहर; (7) 1942 का जनता का ''भारत छोड़ो'' आंदोलन तथा उससे पहले के कांग्रेस के आंदोलन, क्रांतिकारियों के त्याग तथा उदारवादियों के प्रयास। अँग्रेजी शासन के प्रारंभ से ही स्वतंत्रता के लिए जितने भी व्यक्तिगत तथा सामूहिक, शांतिमय अथवा क्रांतिकारी, हिंसात्मक अथवा अहिंसात्मक प्रयास किए गए, त्याग किए गए, उनमें से प्रत्येक को इस स्वतंत्रता का श्रेय है, उनमें से प्रत्येक का योगदान महत्वपूर्ण है और जो शहीद हो गए तथा स्वतंत्रता के फलों का उपभोग करने के लिए नहीं रहे, उनका त्याग और योगदान और भी अधिक वंदनीय है।

15 अगस्त, 1947 को स्वतंत्रता-संघर्ष का इतिहास समाप्त नहीं हुआ। स्वतंत्रता सतत सतर्कता माँगती है। उसकी सुरक्षा के लिए आवश्यक लडाई तथा देश के निर्माण की लड़ाई कम महत्वपूर्ण नहीं। 15 अगस्त, 1947 को ही संविधान सभा में बोलते हुए डा॰ राजेन्द्र प्रसाद ने देशवासियों का आह्वान करते हुए बड़े प्रभावशाली शब्दों में कहा था:

''आइये, इस देश में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने का संकल्प करें-

जब प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र होगा और उसे अपनी प्रतिभा के पूरे विकास के तथा अपनी पूरी सामर्थ्य तक ऊँचा उठने के साधन उपलब्ध होंगे,

जब गरीबी और गंदगी, अज्ञान और बीमारी दूर हो गई होंगी,

जब ऊँच और नीच के बीच, गरीब और अमीर के बीच भेद मिट गया होगा,

जब न केवल धर्म के विश्वास, प्रतिपादन और व्यवहार की पूरी स्वतंत्रता होगी, बल्कि धर्म ऐसी संयोजक शक्ति बन जाएगा जो अशांति और विच्छेद, विभाजन और अलगाव पैदा करने के बजाय मनुष्य को मनुष्य के साथ जोड़े,

जब मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का अंत हो जाएगा,

जब भारत की आदिमजातियों को, तथा उन सबको, जो पिछडे हुए हैं अन्य सबके बराबरी में लाने के लिए विशेष सुविधाओं का आयोजन किया जाएगा,

जब इस देश में न केवल करोड़ों भारतीयों का पेट भरने के लिए पर्याप्त अन्न होने लगेगा, बल्कि एक बार फिर दूध की नदियाँ बहने लगेंगी,

जब हर झोंपड़े और पल्ली में घरेलू धंधों का मधुर संगीत गूँजता होगा और साथ-साथ युवतियाँ अपने मीठे सुर अलापती होंगी,

जब सूरज और चंद्रमा इस देश के सुखी घरों और हँसते हुए चेहरों पर चमकेंगे।''

- राजेन्द्र प्रसाद

15 अगस्त, 1947

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय

दिल्ली विश्वविद्यालय के श्रेष्ठ प्रकाशन

1.	भारतीय संगीत का सौंदर्य-विधान	मधुरलता भटनागर
2.	भारतीय संगीत में निबद्ध तथ अनिबद्ध गान	विजया चांदोरकर
3.	ठुमरी की उत्पत्ति, विकास और शैलियाँ	शत्रुघ्न शुक्ल
4.	भारतीय राजनीतिक चिंतन	जवाहर लाल द्विवेदी
5.	पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन	प्रो. सुब्रत मुखर्जी डॉ. सुशीला रामास्वामी
6.	नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे	साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता
7.	राजनीति कोश	डॉ. सुभाष काश्यप, विश्व प्रकाश गुप्त
8.	वेद परिचय	कृष्ण लाल
9.	धर्मदर्शन की मूल समस्याएँ	वेद प्रकाश वर्मा
10.	जलवायु विज्ञान	एस.एल. गुप्ता
11.	भूगोल परिभाषा कोश	संपादित
12.	मानवशास्त्रीय विचारक और उनकी विचारधाराएँ	उपाध्याय एवं पाण्डेय
13.	बाग़बानी	डॉ. कीर्ति सिंह
14.	अनुवाद विज्ञान	सं. डॉ. नगेन्द्र
15.	काला धन (भारत की काली अर्थव्यवस्था का अध्ययन)	कमल नयन काबरा
16.	खेल दवाओं का	डॉ. जवाहर लाल जैन एवं डॉ. शिला जैन
17.	व्यवहारपरक अनुसंधान में प्रायोगिक अभिकल्प	प्रो. के. डी. ब्रूटा
18.	आज़ादी के बाद का भारत 1947-2000	बिपिन चंद्र

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
बैरक नं. 2 व 4, केवेलरी लाइन
दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली-110 007
फोन : 27666839 (डायरेक्ट) 2766-7725/1643 (एक्सटेंशन)

मूल्य : 40.00 रुपये